माधव हम परिणाम निराशा

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली कथा संग्रह 'माधव हम परिणाम निराशा' का हिंदी अनुवाद)

माधव हम परिणाम निराशा

मैथिली कथा संग्रह

जगदीश प्रसाद मण्डल

माधव हम परिणाम निराशा

हिंदी अनुवाद

रामेश्वर प्रसाद मण्डल

माधव हम परिणाम निराशा

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

रामेश्वर प्रसाद मण्डल

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

MADHAV HAM PARINAAM NIRAASHA

Hindi Translation of the Maithili Short-Story Collection Madhav Ham Parinaam Niraasha

Original Author: Shri Jagdish Prasad Mandal
Hindi Translation: Shri Rameshwar Prasad Mandal

Madhav Ham Parinaam Niraasha is the Hindi translation of Shri Jagdish Prasad Mandal's Maithili short-story collection, translated by Shri Rameshwar Prasad Mandal. Deeply rooted in the lived realities of Mithila, these stories open a window into the intimate world of villages, families, labour, memory, poverty, migration, duty and moral conflict. Mandal writes not as a distant observer, but from within the social fabric itself, capturing the pulse of ordinary people whose struggles illuminate deeper truths about human existence.

His characters include farmers, workers, sons, daughters, elders, householders and seekers of dignity. Through their lives, he explores enduring questions of time, responsibility, social transformation and ethical conduct. The title itself evokes the pain and complexity of human experience- desire, effort, error and the eventual recognition of consequence.

What makes Mandal an exceptional storyteller is his rare ability to transform local speech, rural circumstances and everyday suffering into literature of universal resonance. This translation brings that humane vision to a wider readership while preserving the emotional depth, cultural fragrance and moral seriousness of the original Maithili work.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District: Supaul, Bihar: 847452
First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-20-5
Price: 299/-
Copyright: © Publisher, 2026
Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typesetting: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452
Website: http://pallavipublication.blogspot.com
Email: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font Source: Google Fonts

All rights to this book are reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, or generated in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

यह हिंदी अनुवाद मिथिला की उस जीवित धरती, उसके किसानों, मजदूरों, गृहिणियों, बेटियों, बेटों, वृद्धों, प्रवासियों और साधारण गृहस्थों और दिशाहीनों को समर्पित है, जिनका जीवन अभाव, श्रम, संघर्ष, विश्वास और मनुष्यता के उजास से बना है। यह समर्पण श्री जगदीश प्रसाद मण्डल की उस कथा-दृष्टि को प्रणाम है, जो गाँव को केवल परिवेश नहीं, बल्कि मनुष्य के चरित्र, कर्म, भूल, मोह, संघर्ष और परिणाम का जीवित शिक्षालय मानती है।

*उनके साहित्य में साधारण जीवन असाधारण अर्थ ग्रहण करता है और लोकभाषा, लोकानुभव तथा ग्रामीण संवेदना मानवीय चेतना की ऊँचाई तक पहुँचती है। यह पुस्तक उन पाठकों के लिए है, जो साहित्य में कथा के साथ-साथ समाज का विवेक, जीवन का हिसाब, कर्म का परिणाम और मनुष्य होने की गहरी जिम्मेदारी खोजते हैं। - **रामेश्वर प्रसाद***

कथा-क्रम

1. गाँव का दर्शन
2. अमृत
3. समय लद गया
4. समय की माँग
5. माधव हम परिणाम निराशा
6. डर
7. खो गया
8. मुझसे अच्छा हुआ ही
9. मन उड़ गया
10. आशीर्वादी रुपया

भूमिका

☰

साहित्य मनुष्य के जीवन से अलग कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, जिस परिवार में जन्म लेता है, जिन परिस्थितियों से गुजरता है और जिन आशाओं, निराशाओं, संघर्षों, भूलों तथा अनुभवों के बीच अपना जीवन बिताता है, वही सब किसी-न-किसी रूप में साहित्य में आता है। कहानी इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण विधा है, क्योंकि वह जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों में छिपे बड़े सत्य को सामने लाती है। कोई साधारण घटना, घरेलू संवाद, वृद्ध की पीड़ा, युवक की उलझन, स्त्री की चिंता या प्रवासी की स्मृति कहानी में आकर जीवन की गहरी पहचान बन जाती है। श्री जगदीश प्रसाद मण्डल का कथा-साहित्य इसी प्रकार के जीवनानुभवों से निर्मित साहित्य है। वे गाँव, परिवार, श्रम, गरीबी, शिक्षा, प्रवास, धर्म, समय, भय, लोभ, सेवा और मनुष्यता जैसे विषयों को अपनी कहानियों में इस तरह रखते हैं कि पाठक केवल कथा नहीं पढ़ता, बल्कि अपने जीवन और समाज पर भी विचार करने लगता है।

"माधव हम परिणाम निराशा" श्री जगदीश प्रसाद मण्डल का एक महत्त्वपूर्ण मैथिली कथा-संग्रह है। इस संग्रह को हिंदी में प्रस्तुत करते समय बार-बार यह अनुभव हुआ कि इन कहानियों की शक्ति इनके साधारण जीवन-संसार में छिपी हुई है। इनके पात्र असाधारण या बहुत

बड़े पदों पर बैठे लोग नहीं हैं। वे गाँव के लोग हैं, गृहस्थ हैं, पढ़े-लिखे युवक हैं, प्रवासी हैं, बूढ़े माता-पिता हैं, बेटियाँ हैं, बेटे हैं, किसान हैं, छोटे व्यापारी हैं और ऐसे मनुष्य हैं, जो जीवन की उलझनों में कभी सही निर्णय लेते हैं, तो कभी गलत दिशा में चले जाते हैं। यही सामान्य जीवन इन कहानियों में विशेष अर्थ ग्रहण करता है।

इस संग्रह का शीर्षक भी पाठक को सोचने के लिए बाध्य करता है। "माधव हम परिणाम निराशा" केवल एक कहानी का नाम नहीं, बल्कि पूरे संग्रह की मूल भावना को व्यक्त करने वाला शीर्षक है। मनुष्य जीवन भर कुछ पाने की इच्छा रखता है। वह धन चाहता है, सम्मान चाहता है, परिवार की सुख-शांति चाहता है, बच्चों का अच्छा भविष्य चाहता है और समाज में प्रतिष्ठा भी चाहता है। पर केवल चाहने से जीवन सफल नहीं होता। मनुष्य के कर्म, निर्णय, समय-बोध, जिम्मेदारी और आचरण ही अंततः उसके जीवन का परिणाम बनाते हैं। जब इच्छा और कर्म के बीच संतुलन नहीं रहता, जब मनुष्य समय पर सही निर्णय नहीं लेता, जब वह परिवार और समाज से कट जाता है या लोभ, भ्रम और लापरवाही में अपना जीवन उलझा लेता है, तब जीवन के अंत में निराशा ही हाथ लग सकती है। इस संग्रह की कहानियाँ इसी परिणाम-बोध की ओर पाठक को ले जाती हैं।

इन कहानियों का हिंदी रूप तैयार करते समय मेरे सामने सबसे बड़ी चिंता यह रही कि मूल कथा की आत्मा सुरक्षित रहे। मैथिली की अपनी मिठास, लोक-संवेदना, संवादों की सहजता और ग्रामीण जीवन की गंध को पूरी तरह दूसरी भाषा में उतारना सरल काम नहीं है। फिर भी मेरा प्रयास रहा है कि हिंदी पाठक कहानी पढ़ते समय केवल कथानक न समझें, बल्कि उस जीवन-परिवेश को भी अनुभव करें, जहाँ से ये कहानियाँ जन्म लेती हैं। भाषा को बहुत कठिन या विद्वत्तापूर्ण बनाने के बजाय सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक रखने का प्रयास किया गया है,

ताकि सामान्य पाठक भी इन कहानियों के भाव तक सहजता से पहुँच सकें।

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल की कथा-दृष्टि का एक बड़ा गुण यह है कि वे जीवन को बहुत निकट से देखते हैं। उनके यहाँ गाँव केवल पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि मनुष्य के संबंधों, व्यवहारों, संघर्षों और स्मृतियों का जीवित संसार है। खेत, घर, दरवाजा, हाट, सड़क, परिवार, कथा-स्थान, विवाह, श्राद्ध, प्रवास और रोजमर्रा की बातचीत, ये सब उनकी कहानियों में जीवन के स्वाभाविक हिस्से की तरह आते हैं। वे किसी घटना को केवल घटना के रूप में नहीं रखते, बल्कि उसके पीछे छिपे सामाजिक अर्थ को भी सामने लाते हैं। इसीलिए उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए लगता है कि लेखक केवल कथा नहीं कह रहे, बल्कि जीवन का हिसाब भी समझा रहे हैं।

इस संग्रह की पहली कहानी "गाँव का दर्शन" प्रवास, स्मृति और जड़ों से कट जाने की कहानी है। ललित मोहन उच्च शिक्षा प्राप्त कर अमेरिका चले जाते हैं। वे विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं और लंबा समय विदेश में बिताते हैं। उनकी पत्नी सुशोभिता भी उनके साथ रहती हैं। बाहर से जीवन सफल दिखाई देता है, पर भीतर-ही-भीतर परिवार, समाज और गाँव से दूरी बढ़ती जाती है। जब उम्र ढलने लगती है, तब मन में गाँव की स्मृति जागती है। बेटा-बेटी अपने-अपने जीवन में अलग हो चुके हैं। बुढ़ापे में दोनों पति-पत्नी को अपना देश, अपना गाँव और अपना पारिवारिक अपनापन याद आने लगता है। जब वे गाँव लौटते हैं, तो देखते हैं कि गाँव बहुत बदल चुका है। पुराने लोग नहीं रहे, नई पीढ़ी उनसे आत्मीय रूप से जुड़ी नहीं है और वे अपने ही पूर्वजों के गाँव में जैसे बाहरी व्यक्ति बनकर रह जाते हैं।

यह कहानी केवल विदेश से लौटे व्यक्ति की कथा नहीं है। इसमें एक बड़ा प्रश्न छिपा है कि यदि मनुष्य जीवन भर केवल अपनी व्यक्तिगत

उन्नति में लगा रहे और परिवार-समाज से संबंध बनाए न रखे, तो बुढ़ापे में उसके पास क्या बचता है? ललित मोहन ने शिक्षा और विज्ञान से बहुत कुछ पाया, पर जीवन का सामाजिक पक्ष उनसे छूट गया। कहानी पाठक को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि मनुष्य की सफलता केवल धन, पद या विदेश-प्रवास से पूरी नहीं होती। परिवार, समाज और आत्मीयता भी जीवन के लिए उतने ही आवश्यक हैं। यही कारण है कि "गाँव का दर्शन" शीर्षक अपने भीतर गहरा व्यंग्य भी रखता है। ललित मोहन गाँव को देखने लौटते हैं, पर असल में गाँव उन्हें उनका अपना जीवन दिखा देता है।

दूसरी कहानी "अमृत" आध्यात्मिक चर्चा से शुरू होकर सामाजिक और नैतिक प्रश्नों तक पहुँचती है। कहानी में अमृत और विष के प्रतीकों के माध्यम से जीवन को समझाया गया है। समुद्र-मंथन की कथा का उल्लेख आता है, पर लेखक का उद्देश्य केवल पुराण-कथा सुनाना नहीं है। वे यह पूछते हैं कि मनुष्य के भीतर अमृत-तत्त्व क्या है और विष-तत्त्व क्या है। भागवत कथा, ब्रह्मस्थान, रघुवंश भाई, जीवानन्द और कलाधर के संवादों के माध्यम से यह बात खुलती है कि धर्म केवल कथा सुनने या धार्मिक आयोजन करने से पूरा नहीं होता। यदि समाज में प्रेम, करुणा, दया, संयम और मनुष्यता नहीं आती, तो धार्मिक आयोजन का वास्तविक फल अधूरा रह जाता है।

इस कहानी में कलाधर नई पीढ़ी का प्रतिनिधि है। वह पूछता है कि भगवतपन क्या है। रघुवंश भाई सरल ढंग से समझाते हैं कि संसार से प्रेम करना, मनुष्य से लेकर जीव-जन्तु तक से प्रेम करना और अपने भीतर के काम, क्रोध, लोभ तथा मोह पर नियंत्रण रखना ही सच्चे अर्थ में भगवतपन है। कहानी का यह विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आज भी समाज में पूजा-पाठ, कथा, प्रवचन और धार्मिक कार्यक्रम होते हैं, पर प्रश्न यह है कि क्या इनसे मनुष्य का व्यवहार सचमुच बदलता है?

"अमृत" कहानी पाठक को धर्म के बाहरी रूप से आगे ले जाकर उसके भीतर के नैतिक अर्थ पर विचार करने को बाध्य करती है। यह कहानी बताती है कि जीवन का असली अमृत प्रेम, करुणा और आत्मसंयम में है, केवल कर्मकांड में नहीं।

तीसरी कहानी "समय लद गया" बदलते गाँव और बदलते समय की कहानी है। कथावाचक पंद्रह वर्ष बाद कोलकाता से गाँव लौटता है। वह नौकरी के कारण शहर में बस गया था, पर उसके भीतर गाँव की स्मृति बनी हुई है। बेटी के विवाह का प्रश्न उठने पर वह सोचता है कि अपनी बेटी का विवाह मिथिलांचल में करना चाहिए। इसी विचार से वह गाँव आता है। गाँव आकर देखता है कि पुराने समय का गाँव बहुत बदल चुका है। सड़कें बन गई हैं, सरकारी सुविधाएँ आ गई हैं और लोगों की जीवन-शैली बदल गई है। पर इस बदलाव के बीच कुछ जीवन ऐसे भी हैं, जो टूट गए हैं। सियाराम का जीवन इसका उदाहरण है।

सियाराम कभी कर्मठ, ईमानदार और उपयोगी व्यक्ति थे। उनके जीवन में श्रम और आत्मसम्मान था। पर समय बदल गया। हल-बैल का समय चला गया, पुराने कारोबार टूट गए और गाँव की आर्थिक बनावट बदल गई। उम्र, गरीबी और बदलते समय ने सियाराम को भीतर से तोड़ दिया। जब वे कहते हैं कि उनका समय लद गया, तब यह वाक्य केवल उनकी व्यक्तिगत पीड़ा नहीं रह जाता। वह एक पूरे युग की समाप्ति का संकेत बन जाता है। यह कहानी बताती है कि समय की गति को समझे बिना जीवन चलाना कठिन है। जो व्यक्ति या समाज समय के साथ अपने को नहीं बदलता, वह धीरे-धीरे किनारे पड़ जाता है। "समय लद गया" में गाँव का परिवर्तन केवल सड़क और भवन के रूप में नहीं आता, बल्कि मनुष्य के टूटते हुए श्रम-संसार के रूप में भी सामने आता है।

चौथी कहानी "समय की माँग" इस संग्रह की विचारप्रधान कहानियों में से एक है। इसमें नीलम नाम की एम.ए. की छात्रा के माध्यम

से समाज, परिवार, स्त्री-पुरुष संबंध, विवाह और जाति जैसे प्रश्न उठाए गए हैं। नीलम पढ़ी-लिखी है और समाजशास्त्र की विद्यार्थी होने के कारण अपने समाज को विचार की दृष्टि से देखती है। वह समझती है कि समाज में जो पुरानी व्यवस्थाएँ हैं, उनमें कुछ अच्छे पक्ष भी हैं, पर कई ऐसे बंधन भी हैं, जो मनुष्य की स्वतंत्रता और समानता को रोकते हैं। उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य की एक ही जाति है, तो जाति के आधार पर विवाह और सामाजिक संबंधों में इतना कठोर बंधन क्यों है?

इस कहानी में नीलम की सोच केवल व्यक्तिगत नहीं है। वह नई पीढ़ी की सोच है। वह समझना चाहती है कि परिवार का गठन केवल परम्परा के दबाव से होना चाहिए या गुण, समझ, समानता और मनुष्यत्व के आधार पर भी होना चाहिए। कहानी में स्वयंवर-प्रथा का संकेत आते ही यह प्रश्न और स्पष्ट हो जाता है कि जिस समाज ने कभी गुण के आधार पर चयन को मान्यता दी थी, वही समाज बाद में जाति-बंधन में इतना कठोर कैसे हो गया? “समय की माँग” कहानी पाठक को यह समझाती है कि यदि समाज को जीवित रहना है, तो उसे अपनी अच्छी परम्पराओं को बचाते हुए बुरी और अन्यायपूर्ण प्रवृत्तियों को बदलना होगा। समय बदलता है, शिक्षा बढ़ती है, विचार बदलते हैं और नई पीढ़ी अपने जीवन का रास्ता स्वयं समझना चाहती है। ऐसे में समाज का काम केवल रोकना नहीं, बल्कि सही दिशा देना भी है।

पाँचवीं कहानी “माधव हम परिणाम निराशा” शीर्षक-कथा है। इसलिए पूरे संग्रह में इसका विशेष महत्त्व है। इस कहानी में जीवन के परिणाम का प्रश्न बहुत स्पष्ट रूप में सामने आता है। कहानी के केंद्र में शिवनाथ और सरूप भाई जैसे पात्र हैं। शिवनाथ पढ़े-लिखे हैं, पर जीवन की राह उनके लिए सीधी नहीं बनती। नौकरी और रोज़गार की खोज में उन्हें बाहर जाना पड़ता है। वे बंगलोर पहुँचते हैं और वहाँ परिश्रम,

समझदारी तथा अवसर का उपयोग करके अपने जीवन को सँवारते हैं। शहर का जीवन उनके सामने नए रास्ते खोलता है। वे कमाते हैं, परिवार को सँभालते हैं और फिर एक समय के बाद गाँव लौटने की इच्छा भी रखते हैं। उनके भीतर अपने गाँव, अपनी वास-भूमि और अपने पुराने समाज से जुड़ने की चाह बनी रहती है।

दूसरी ओर सरूप भाई का जीवन अलग दिशा में जाता है। उनका जीवन दहेज, जमीन, लोभ, मुकदमे और गलत निर्णयों की उलझनों में फँसता चला जाता है। इस कहानी में लेखक दिखाते हैं कि मनुष्य का जीवन केवल इच्छा से नहीं बनता। सही निर्णय, समय की पहचान, श्रम और संतुलित आचरण भी आवश्यक हैं। सरूप भाई के जीवन में जो टूटन आती है, वह केवल एक व्यक्ति की असफलता नहीं है। उसके पीछे समाज की बुरी प्रवृत्तियाँ भी हैं। दहेज की चाह, जमीन को लेकर विवाद, परिवार के भीतर लोभ और न्यायालय की उलझनें मनुष्य को भीतर से खोखला कर देती हैं। इसीलिए कहानी का शीर्षक “माधव हम परिणाम निराशा” अत्यंत अर्थपूर्ण हो उठता है। यह शीर्षक केवल भक्ति या करुण भाव नहीं जगाता, बल्कि जीवन के अंतिम हिसाब की ओर भी संकेत करता है। जब मनुष्य अपने जीवन का परिणाम देखता है और पाता है कि बहुत कुछ चाहने के बाद भी वह सही राह नहीं पकड़ सका, तब उसके भीतर निराशा का भाव स्वाभाविक रूप से जन्म लेता है।

इस कहानी की एक विशेषता यह है कि लेखक निराशा को केवल भावुकता में नहीं बदलते। वे उसके कारण भी दिखाते हैं। शिवनाथ और सरूप भाई के जीवन को साथ रखकर कहानी बताती है कि समय सबको अवसर देता है, पर सभी लोग उस अवसर का उपयोग समान रूप से नहीं कर पाते। कोई श्रम और समझदारी से अपना जीवन सँवार लेता है, तो कोई अपने ही मोह और उलझन में फँसकर जीवन की शक्ति खो देता है। इस दृष्टि से यह कहानी संग्रह की केंद्रीय कथा कही जा सकती है,

क्योंकि इसमें जीवन, कर्म, परिणाम और पछतावे का वही भाव है, जो पूरे संग्रह में अलग-अलग रूपों में बार-बार आता है। आशापूर्ण परिणाम के आभामय स्थान पर जब निराशा का अंधकार सामने आता है तो स्वत: करुणा की धारा बहने लगती है और लहरो से प्रस्फुटित होते हैं, विद्यापति रचित गीत- 'माधव हम परिणाम निराशा'।

छठी कहानी "डर" मनुष्य के भीतर छिपे भय को समझने की कहानी है। कहानी में सिंहेश्वर अपने मन के डर से परेशान हैं। उन्हें अँधेरे से भी डर लगता है और सरकारी कार्यालय जाते समय भी भय महसूस होता है। यह डर केवल बाहरी स्थिति का नहीं, बल्कि मन की कमजोरी, अज्ञान, असमंजस और अनुभवहीनता से पैदा होने वाला डर है। वे इस समस्या का समाधान खोजने के लिए रघुवंश काका के पास जाते हैं। रघुवंश काका उनके प्रश्न को गंभीरता से लेते हैं और धीरे-धीरे समझाते हैं कि डर कई कारणों से पैदा होता है। कभी वह अज्ञान से आता है, कभी भ्रम से, कभी गलत काम करने से, कभी काम का तरीका न जानने से और कभी समाज में बनी पुरानी शासकीय कठोरता की स्मृति से।

इस कहानी का महत्त्व इस बात में है कि लेखक डर को केवल व्यक्तिगत कमजोरी नहीं मानते। वे उसे सामाजिक और मानसिक दोनों स्तरों पर देखते हैं। सरकारी कार्यालय में जाने से आम आदमी क्यों डरता है? क्योंकि उसे वहाँ का ढंग नहीं मालूम, भाषा नहीं मालूम, प्रक्रिया नहीं मालूम और कई बार कुर्सी पर बैठे आदमी की कठोरता का भय भी उसके मन में जमा रहता है। इसी प्रकार अँधेरे का डर भी कई बार वास्तविक नहीं होता, बल्कि कल्पना और भ्रम से पैदा होता है। रघुवंश काका समझाते हैं कि मनुष्य का भ्रम भी डर को बड़ा बना देता है। जब मन सही बात समझता है, तब भय कम होने लगता है।

"डर" कहानी सामान्य पाठक को बहुत सहज शिक्षा देती है। डर से भागने पर डर बढ़ता है, पर उसे समझने और उसका सामना करने से

वह घटता है। यदि किसी काम से डर लगता है, तो उस काम की विधि सीखनी चाहिए। यदि सरकारी कार्यालय से डर लगता है, तो उसके नियम और प्रक्रिया को समझना चाहिए। यदि गलत काम से डर लगता है, तो गलत काम से बचना चाहिए। यह कहानी जीवन के व्यावहारिक विवेक की कहानी है। इसमें लेखक ने बड़े सरल ढंग से बताया है कि साहस केवल शारीरिक बल का नाम नहीं है। सही जानकारी, सही आचरण और मन की स्पष्टता भी मनुष्य को साहस देती है।

सातवीं कहानी “खो गया” समय और जिम्मेदारी की उपेक्षा से पैदा हुई पीड़ा की कहानी है। कहानी में कथावाचक हाट से लौटते समय सुकदेव से मिलता है। सुकदेव की शारीरिक दशा देखकर उसे आश्चर्य होता है। वह पहले जैसा चुस्त नहीं रहा। बातचीत के क्रम में सुकदेव के जीवन की अंदरूनी व्यथा खुलती है। उसने जीवन का बहुत समय बेकार गपशप, ताश और इधर-उधर के व्यर्थ कामों में निकाल दिया। जब तक पिता थे और परिवार की बड़ी जिम्मेदारी उन्हीं पर थी, सुकदेव ने जीवन को गंभीरता से नहीं लिया। पर जब परिवार का बोझ उसके सिर पर आया, तब उसे समझ में आया कि समय खो जाने के बाद उसे वापस नहीं लाया जा सकता।

सुकदेव के सामने वृद्ध माता-पिता, बीमार माँ, अलग रह रहा भाई, घर-परिवार की चिंता और तीन विवाह-योग्य बेटियों का भार है। अब वह चाहता है कि कुछ कर सके, पर शरीर टूट चुका है और समय हाथ से निकल चुका है। कहानी का शीर्षक “खो गया” केवल किसी वस्तु के खो जाने का संकेत नहीं है। यहाँ खोया हुआ समय है, खोया हुआ अवसर है, खोया हुआ आत्मविश्वास है और खोया हुआ जीवन-संतुलन है। लेखक दिखाते हैं कि जीवन की जिम्मेदारियाँ अचानक सामने आ जाती हैं, पर उनकी तैयारी धीरे-धीरे करनी पड़ती है। जो व्यक्ति युवावस्था में समय का मूल्य नहीं समझता, उसे बाद में जीवन का बोझ बहुत भारी

लगने लगता है।

इस कहानी में ग्रामीण जीवन की सच्चाई बहुत स्वाभाविक ढंग से आई है। हाट, रास्ता, दरवाजा, कुशल-क्षेम और घरेलू बातचीत के बीच जीवन का बड़ा प्रश्न उठता है। यह कहानी किसी उपदेश की तरह नहीं लगती, पर पढ़ते-पढ़ते पाठक समझ जाता है कि समय सबसे बड़ा धन है। धन खोकर फिर पाया जा सकता है, पर समय खोकर वापस नहीं मिलता। सुकदेव का जीवन पाठक को सावधान करता है कि जीवन को केवल हँसी-मजाक, गपशप और टालमटोल में नहीं बिताया जा सकता। परिवार, श्रम और जिम्मेदारी को समय रहते समझना ही जीवन की बुद्धिमानी है।

आठवीं कहानी "मुझसे अच्छा हुआ ही" माता-पिता की सेवा, श्राद्ध-कर्म और वास्तविक पुत्रधर्म पर केंद्रित कहानी है। इस कहानी में महेन्द्र और दिनेश दो भाई हैं। महेन्द्र पढ़ने में तेज है। पिता मुरारी उसे आगे पढ़ाते हैं और वह डॉक्टर बन जाता है। बाद में वह अमेरिका चला जाता है। दूसरी ओर छोटा बेटा दिनेश मैट्रिक के बाद गाँव में रह जाता है और खेती को अपना आधार बनाता है। बाहर से देखने पर महेन्द्र अधिक सफल दिखाई देता है। वह डॉक्टर है, विदेश में रहता है और समाज की दृष्टि से प्रतिष्ठित है। पर कहानी धीरे-धीरे यह प्रश्न उठाती है कि वास्तविक सफलता किसे कहा जाए।

माँ की मृत्यु के बाद महेन्द्र बारह वर्ष बाद गाँव आता है। वह श्राद्ध-कर्म करना चाहता है। समाज में श्राद्ध-कर्म का महत्त्व है, पर कहानी में यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण बनकर सामने आता है कि जो पुत्र माता-पिता की जीवित अवस्था में उनके पास रहा, जिसने उनकी बीमारी में सेवा की और जिसने घर-परिवार सँभाला, उसका स्थान क्या है? दिनेश ने माता-पिता की वास्तविक सेवा की है। उसने गाँव नहीं छोड़ा, खेती सँभाली, घर देखा और वृद्ध माता-पिता की जरूरतों को समझा। जब

समाज की बैठक में यह बात सामने आती है, तब महेन्द्र को अपनी स्थिति का बोध होता है। वह समझता है कि केवल बाहर से बड़ा बन जाना जीवन की पूर्णता नहीं है।

इस कहानी का शीर्षक “मुझसे अच्छा हुआ ही” बहुत सरल है, पर उसमें गहरी आत्मस्वीकृति छिपी है। महेन्द्र स्वीकार करता है कि दिनेश उससे अच्छा निकला। यह स्वीकार करना ही कहानी का नैतिक केंद्र है। लेखक यहाँ श्राद्ध-कर्म का विरोध नहीं करते, पर यह स्पष्ट करते हैं कि मृतक के नाम पर कर्मकांड करने से पहले जीवित अवस्था में सेवा का महत्त्व समझना चाहिए। माता-पिता को जीवन में सेवा, सम्मान और सहारा चाहिए। मृत्यु के बाद बड़े भोज, विधि-विधान और खर्च से अधिक महत्त्व उस सेवा का है, जो उनके जीवनकाल में की गई हो। जो मेरे अनुज दिनेश ने की है। इस प्रकार यह कहानी पारिवारिक जिम्मेदारी, पुत्रधर्म और दिखावे से मुक्त सेवा की कहानी बन जाती है।

नौवीं कहानी “मन उड़ गया” जीवन की अधूरी तैयारी और असंतुलित स्वप्न की कहानी है। इस कहानी के केंद्र में राधामोहन हैं। राधामोहन और मानेसर एक समय साथ पढ़ते थे। मानेसर पढ़ाई में आगे बढ़ते गए, पर राधामोहन की पढ़ाई छूट गई। राधामोहन का झुकाव बचपन से ही कीर्तन-भजन, गायन और कलात्मक गतिविधियों की ओर था। उस समय गाँव-गाँव में कीर्तन-मंडली, भजन-मंडली और नाटक-नौटंकी का वातावरण था। राधामोहन को लगा कि वे इसी दिशा में आगे बढ़ेंगे और एक अच्छे गायक या कलाकार बनेंगे। उनके मन में आशा थी, विश्वास था और उड़ान भी थी। पर जीवन केवल इच्छा से नहीं बनता। उसके लिए साधना, अनुशासन, समय की समझ और परिस्थिति की पहचान भी चाहिए। राधामोहन के जीवन में यही कमी रह गई।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। कीर्तन-मंडली के बाद नौटंकी पार्टी में भी उनका बहुत समय बीता। फिर वे नाटक पार्टी में काम करने लगे।

पर जिस लोकनाट्य और मंचीय संसार को उन्होंने अपना जीवन समझ लिया था, वही संसार धीरे-धीरे टूटता चला गया। एक-एक कर मंडलियाँ और पार्टियाँ बिखर गईं। कलाकार इधर-उधर चले गए। इसी बीच राधामोहन की उम्र पचास वर्ष से ऊपर निकल गई। माता-पिता भी नहीं रहे। परिवार की जिम्मेदारी सामने आ गई। बेटियों का विवाह, दहेज की समस्या, आर्थिक व्यवस्था और गृहस्थ जीवन का भार उन्हें दबाने लगा। मानेसर के सामने जब वे यह स्वीकार करते हैं कि जिस दिन पढ़ाई छोड़ी थी, उस दिन मन में अच्छा गायक और अच्छा कलाकार बनने की आशा थी, पर आज मन की सारी उड़ान धुएँ की तरह उड़ गई, तब कहानी का शीर्षक पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है।

“मन उड़ गया” केवल क्षणिक उदासी का वाक्य नहीं है। यह उस मनुष्य की पीड़ा है, जिसने जीवन में स्वप्न तो देखा, पर उस स्वप्न को जीवन की ठोस जमीन पर खड़ा नहीं कर सका। इस कहानी में लेखक कला-वृत्ति का विरोध नहीं करते। वे यह नहीं कहते कि भजन, कीर्तन, गायन, नौटंकी या नाटक गलत हैं। वे केवल यह दिखाते हैं कि कला भी जीवन की जिम्मेदारी से कटकर नहीं चल सकती। किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए मेहनत, अनुशासन, अभ्यास और दूरदृष्टि की आवश्यकता होती है। केवल भावुकता या मन की उड़ान से जीवन नहीं सँवरता। राधामोहन का जीवन पाठक को सावधान करता है कि युवावस्था में लिया गया निर्णय पूरे जीवन को प्रभावित कर सकता है। शिक्षा, श्रम और परिवार की जिम्मेदारी की उपेक्षा करने पर बाद में पछतावा ही बचता है।

दसवीं कहानी “आशीर्वादी रुपया” शीर्षक कहानी इस संग्रह की एक प्रेरक और जीवन-सकारात्मक कहानी है। इसमें बड़बड़िया नामक छोटे व्यापारी का जीवन सामने आता है। कहानी की शुरुआत बहुत साधारण स्थिति से होती है। कृष्ण कुमार और रुक्मिणी सुबह-सुबह

उससे मिर्च खरीदते हैं। बड़बड़िया अपने छोटे-से कारोबार में पूरी व्यवस्था, सावधानी और श्रम के साथ लगा रहता है। उसके पास बहुत बड़ी पूँजी नहीं है, पर काम के प्रति ईमानदारी और समय का सम्मान है। वह बिक्री के सामान से लेकर तौलने के सामान तक सब कुछ व्यवस्थित रखता है। यह छोटी-सी बात उसके चरित्र को खोल देती है। वह अपने काम को छोटा नहीं मानता, बल्कि उसी में जीवन की राह बनाता है।

बातचीत के क्रम में उसके जीवन का इतिहास सामने आता है। विवाह के समय सास से मिले एक हजार रुपये, गोड़ लगाई के पाँच सौ रुपये और एक साइकिल ही उसकी आरंभिक पूँजी थी। उसने इसी को आशीर्वाद माना और उसी से अपना कारोबार शुरू किया। यह पैसा केवल पैसा नहीं था। उसमें परिवार का स्नेह, विश्वास और शुभकामना जुड़ी थी। इसलिए वह उसके लिए "आशीर्वादी रुपया" बन गया। उसने छोटी पूँजी को छोटा नहीं समझा। मेहनत, समय-पालन और व्यवहार-कुशलता से धीरे-धीरे जीवन को सँवारा। पैंतीस वर्षों के परिश्रम से उसने परिवार चलाया, बेटियों का विवाह किया और बेटों को पढ़ाया। इस प्रकार कहानी बताती है कि जीवन में सफलता केवल बड़ी पूँजी से नहीं आती। ईमानदार श्रम, धैर्य, सही उपयोग और निरंतरता से भी मनुष्य अपना जीवन बना सकता है।

"आशीर्वादी रुपया" इस संग्रह में आशा का स्वर जोड़ती है। कई कहानियों में समय खो जाने, संबंध टूट जाने, गलत निर्णय लेने, परिवार से दूर हो जाने और जीवन के अंत में पछताने की स्थिति आती है। पर इस कहानी में लेखक दिखाते हैं कि यदि मनुष्य छोटे अवसर को भी ठीक से पहचाने, तो वही जीवन का आधार बन सकता है। बड़बड़िया का जीवन उन लोगों के लिए प्रेरणा है, जो अभाव को बहाना बनाकर बैठ जाते हैं। वह बताता है कि अभाव से निकलने का रास्ता श्रम और अनुशासन से बनता है। छोटी पूँजी, छोटा कारोबार और साधारण जीवन

भी सम्मानपूर्ण हो सकता है, यदि उसमें ईमानदारी, समय का ध्यान और निरंतर परिश्रम हो।

इस संग्रह की कहानियों को पढ़ते हुए यह स्पष्ट होता है कि श्री जगदीश प्रसाद मण्डल जीवन को परिणाम की दृष्टि से देखते हैं। वे मनुष्य के वर्तमान को उसके अतीत से जोड़ते हैं और फिर यह दिखाते हैं कि आज का कर्म कल का परिणाम बनता है। "गाँव का दर्शन" में प्रवास और जड़ों से कटने का परिणाम है। "अमृत" में धर्म और व्यवहार के बीच का अंतर है। "समय लद गया" में समय के बदल जाने की पीड़ा है। "समय की माँग" में नई पीढ़ी की सामाजिक चेतना है। "माधव हम परिणाम निराशा" में लोभ, मुकदमा, श्रम और जीवन-फल का प्रश्न है। "डर" में मनुष्य के भीतर का भ्रम और उससे निकलने का उपाय है। "खो गया" में समय की बरबादी का दुख है। "मुझसे अच्छा हुआ ही" में सेवा और कर्मकांड का अंतर है। "मन उड़ गया" में अधूरे स्वप्न और जीवन-यथार्थ का संघर्ष है। "आशीर्वादी रुपया" में छोटे साधन से बड़े जीवन-निर्माण की प्रेरणा है।

इन कहानियों की भाषा सरल है। लेखक कठिन विचारों को भी गाँव के उदाहरणों, घरेलू प्रसंगों और संवादों के माध्यम से समझाते हैं। उनकी शैली में उपदेश कम है, अनुभव अधिक है। वे पाठक को सीधे आदेश नहीं देते, बल्कि पात्रों के जीवन से सोचने का अवसर देते हैं। उनकी कहानियों में संवाद बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पात्र जब बोलते हैं, तो केवल बात नहीं करते, वे अपने जीवन की पूरी पृष्ठभूमि भी खोलते हैं। एक वृद्ध की थकी हुई साँस, एक प्रवासी की स्मृति, एक विद्यार्थी का प्रश्न, एक किसान की चिंता, एक छोटे व्यापारी की व्यवस्था और एक पुत्र की आत्मस्वीकृति, ये सब मिलकर कहानी को जीवित बनाते हैं।

इस संग्रह का सामाजिक महत्त्व भी विशेष है। इसमें मिथिला का ग्रामीण जीवन है, पर इसके प्रश्न केवल मिथिला तक सीमित नहीं हैं।

आज प्रवास हर जगह है। परिवार से दूरी हर जगह है। बूढ़े माता-पिता की समस्या हर जगह है। शिक्षा और बेरोजगारी का प्रश्न हर जगह है। दहेज, जाति, कर्मकांड, डर, समय की बरबादी और छोटे श्रम की उपेक्षा जैसी समस्याएँ व्यापक हैं। इसीलिए ये कहानियाँ स्थानीय होते हुए भी व्यापक अर्थ रखती हैं। लेखक अपने गाँव-समाज से कथा उठाते हैं, पर वह कथा मनुष्य के जीवन की बड़ी सच्चाई तक पहुँच जाती है।

हिंदी अनुवाद करते समय मेरा प्रयास यही रहा है कि मूल मैथिली कथा की संवेदना, आत्मीयता और सामाजिक अर्थ यथासंभव सुरक्षित रहें। मैथिली की अपनी मिठास, लोकस्वर, ग्रामीण संबोधन, पारिवारिक निकटता और संवाद की सहजता को हिंदी में पूरी तरह उतारना सरल काम नहीं है। फिर भी कोशिश की गई है कि पाठक कथा की आत्मा से जुड़ सकें और उन्हें यह अनुभव हो कि वे किसी दूर के समाज की कहानी नहीं, बल्कि अपने ही जीवन-संसार से जुड़ी बातें पढ़ रहे हैं। अनुवाद में भाषा को सामान्य, स्पष्ट और सुगम रखा गया है, ताकि कथा का प्रवाह बना रहे और पात्रों की आवाज़ स्वाभाविक लगे। जहाँ भी ग्रामीण जीवन, पारिवारिक संबंध, लोकविश्वास, सामाजिक व्यवहार और जीवनानुभव के संकेत आए हैं, वहाँ उनका भाव बचाए रखने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक का उद्देश्य केवल मैथिली कथा को हिंदी में पहुँचाना नहीं, बल्कि उस लोकजीवन, नैतिक चिंता और मानवीय अनुभव को भी पाठक तक ले जाना है, जो इन कहानियों की असली शक्ति है। मुझे विश्वास है कि हिंदी पाठक इन कहानियों में मिथिला की मिट्टी, गाँव-समाज की हलचल, परिवार की चिंता, श्रम की गरिमा और मनुष्य के भीतर चलने वाले संघर्ष को सहज रूप में अनुभव कर सकेंगे। यह पुस्तक उन पाठकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी हो सकती है, जो साहित्य में केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज, जीवन और मनुष्य के व्यवहार को समझना चाहते हैं।

अंततः “माधव हम परिणाम निराशा” केवल दस कहानियों का संग्रह नहीं है, यह जीवन के हिसाब-किताब को समझाने वाली पुस्तक है। इसमें मनुष्य की इच्छाएँ हैं, उसकी भूलें हैं, उसकी मेहनत है, उसका मोह है, उसका डर है, उसका पछतावा है और उसकी संभावना भी है। इस संग्रह की कहानियाँ पाठक को समझाती हैं कि जीवन का परिणाम अचानक नहीं बनता। वह धीरे-धीरे बनता है। हर दिन का आचरण, हर निर्णय, हर उपेक्षा, हर श्रम और हर संबंध मिलकर मनुष्य के जीवन का अंतिम रूप गढ़ते हैं। यही कारण है कि इन कहानियों को पढ़ते समय पाठक केवल पात्रों को नहीं देखता, बल्कि अपने जीवन और अपने समाज को भी देखने लगता है। कहीं उसे प्रवास के बाद लौटे मनुष्य की अकेलेपन से भरी स्थिति दिखती है, कहीं धर्म और व्यवहार का अंतर, कहीं समय से कटे जीवन की पीड़ा, कहीं नई पीढ़ी की बेचैनी, तो कहीं छोटे श्रम से बने सम्मानपूर्ण जीवन की प्रेरणा। इस प्रकार यह संग्रह पाठक को भीतर से सोचने के लिए तैयार करता है। यह बताता है कि मनुष्य का जीवन केवल भाग्य या इच्छा पर नहीं चलता, बल्कि सजगता, जिम्मेदारी, श्रम, संबंध और सही समय पर लिए गए निर्णयों से बनता है। यदि ये कहानियाँ पाठक को अपने कर्म, परिवार, समाज और समय के प्रति थोड़ा भी अधिक सावधान बनाती हैं, तो इस अनुवाद का प्रयोजन सार्थक माना जाएगा। यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी सार्थकता है।

इस प्रयास का परिणाम आपके हाथों में है।

- रामेश्वर प्रसाद मण्डल

सुन्दर भवन, निर्मली

मई 2026

मो. 9973541877

गाँव का दर्शन

☰

तीस वर्ष अमेरिका में रहने के बाद ललित मोहन के भीतर गाँव की स्मृति जोर पकड़ने लगी। अपने मन से तो उनके भीतर गाँव लौटने का वैसा विचार नहीं था, पर पत्नी सुशोभिता के आग्रह से उनके भीतर भी लौटने का विचार बनने लगा।

ललित मोहन गाँव के पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय, अर्थात् जब ललित मोहन ने एम.एस-सी. किया था, तब मोहनपुर गाँव में पढ़े-लिखे, यानी साक्षर लोगों की संख्या चार-पाँच प्रतिशत ही थी। वह भी केवल पुरुष वर्ग में। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचलन बिल्कुल नहीं था। पाँच सौ बीघे की बस्ती में, अर्थात् पूरे गाँव में, केवल आठ-नौ परिवार ऐसे थे, जिनमें पढ़ने-लिखने का चलन शुरू हुआ था। शेष डेढ़-दो सौ परिवार ऐसे थे, जिनमें पढ़ने-लिखने की शुरुआत भी नहीं हुई थी। कहने का अर्थ यह कि लगभग पूरा गाँव निरक्षर था। गाँव में, यानी मोहनपुर में, विद्यालय नहीं था। दस-बारह परिवार ऐसे थे, जिनके पास बीस बीघे से अधिक खेत-खलिहान थे। शेष परिवारों में आधे से अधिक ऐसे थे, जिनके पास पाँच बीघे से कम जमीन थी, और कई परिवार ऐसे भी थे, जिनके पास अपनी वास भूमि तक नहीं थी।

मोहनपुर गाँव में ललित मोहन का परिवार, अर्थात् उनका दियादी-परिवार, जितना बड़ा था, उतना ही व्यवस्थित, सभ्य और संस्कारित भी

माना जाता था। वह राज से जुड़ा हुआ परिवार था। ललित मोहन के बाबा कृष्णानन्द राज-व्यवस्था में कलपरदार, अर्थात् राज-काज से जुड़ा एक पद, सँभालते थे, और उसी से उन्होंने संपत्ति अर्जित की थी। यद्यपि राजतंत्रीय व्यवस्था टूट चुकी थी और देश स्वतंत्र भी हो चुका था, फिर भी कृष्णानन्द ने जो संपत्ति अर्जित की थी, वह तो बनी ही हुई थी। कृष्णानन्द देश की स्वतंत्रता से लगभग तीन वर्ष पहले, यानी 1944 ईस्वी के आसपास, चल बसे थे, पर उनके दोनों पुत्र, देवानन्द और ब्रह्मानन्द, राज से जुड़े ही रहें। मोहनपुर गाँव में, जिस गाँव की खेती का कुल रकबा पाँच सौ बीघा था, उसमें दो सौ बीघा जमीन अकेले देवानन्द के परिवार के पास थी।

बचपन से ही ललित मोहन पढ़ाई में तेज थे। आरम्भ में उनकी पढ़ाई-लिखाई दरभंगा में हुई। बाद में मैट्रिक पास करने के बाद वे पटना साइंस कॉलेज में पढ़ने लगे। अपनी कक्षा में ललित मोहन प्रथम स्थान प्राप्त करते थे। हाँ, मैट्रिक में उनका प्रथम स्थान नहीं आया था, तीसरा स्थान आया था, पर आई.एस-सी. से पटना विश्वविद्यालय में वे प्रथम स्थान पाने लगे और एम.एस-सी. तक यह क्रम बना रहा।

अमेरिका में वैज्ञानिकों की माँग हुई और ललित मोहन वैज्ञानिक के रूप में अमेरिका चले गए। उन दिनों अपने समाज में बाल-विवाह का प्रचलन था, पर यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि हर जगह शत-प्रतिशत बाल-विवाह ही होता था। समाज की अधिकांश जातियों में बाल-विवाह का चलन जरूर था, पर कुछ जातियाँ ऐसी भी थीं, जिनमें बाल-विवाह होता भी था और नहीं भी होता था। जिन जातियों में बाल-विवाह का चलन था, वहाँ लोगों के मन में यह धारणा बनी हुई थी कि बेटा-बेटी का विवाह कर देना माता-पिता का ऋण चुकाना है। समाज में अशिक्षा, गरीबी और आर्थिक विपन्नता फैली हुई थी। तीन-चौथाई से अधिक लोग ऐसे थे, जिन्हें न भरपेट पौष्टिक भोजन मिल पाता था और न बड़ी बीमारी

होने पर समुचित इलाज। जीवन का कोई भरोसेमंद आधार नहीं था। इसलिए माता-पिता अपने बेटा-बेटी के विवाह-ऋण से उऋण होने के लिए बाल-विवाह की प्रथा अपनाए हुए थे।

जब ललित मोहन ने एम.एस-सी. पास किया, तब गाँव-गाँव से रिश्ते आने लगे। कॉलेज छोड़ने के छह महीने बाद उनका विवाह हुआ। जैसे ललित मोहन का परिवार राज-परिवार से जुड़ा हुआ था, वैसे ही उनका विवाह भी राज-परिवार से जुड़े एक परिवार में हुआ। अपने देश में जैसे जमींदार परिवार थे, वैसे ही राजा-रजवाड़े भी थे। आज देश का जो दृश्य है, वैसा दृश्य आजादी से पहले, यानी 1947 ईस्वी से पहले नहीं था। उस समय हजारों जमींदार और राजा हुआ करते थे।

देश की आजादी के लिए अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जब जन-आन्दोलन उग्र हुआ, तब देश के स्वतंत्र होने से पहले, अर्थात् 1947 ईस्वी से पहले ही जमींदारी और राजशाही दोनों का अंत हो चुका था।

ललित मोहन का विवाह सुशोभिता से हुआ। सुशोभिता बी.ए. पास थीं। जमींदार परिवार में जन्म लेने के कारण उनका लालन-पालन जमींदारी ठाठ-बाट में ही हुआ था।

ललित मोहन के विवाह के छह महीने बाद विवाह के छह महीने बाद ललित मोहन और सुशोभिता, दोनों अमेरिका चले गए। आज का जो अमेरिका है, वह उस समय का अमेरिका नहीं था, फिर भी वह एक विकसित देश तो था ही। वैज्ञानिक होने के कारण ललित मोहन को सरकारी स्तर पर सभी तरह की सुविधाएँ प्राप्त थीं।

जिस दिन ललित मोहन और सुशोभिता अमेरिका के लिए विदा हुए, उस दिन अपने परिवार के साथ-साथ संबंधी, कुटुम्ब और समाज के लोग भी प्रसन्नता से भरे हुए उन्हें विदा करने आए। अमेरिका जाने के बाद कुछ दिनों तक दोनों को, अर्थात् ललित मोहन और सुशोभिता दोनों को, वहाँ अच्छा नहीं लगा, पर धीरे-धीरे वे वहाँ के जीवन में ढलते गए

और उन्हें वह जीवन अच्छा लगने लगा। और उन्हें वहाँ अच्छा लगने लगा। आज के समय की तरह उस समय विदेशों में, विशेषकर अमेरिका में, भारतीय लोग बहुत कम थे। आज तो स्थिति यह है कि संसार के अधिकांश देशों में भारत-मूल के अनेक लोग मिल जाते हैं।

विज्ञान की दृष्टि रखने के कारण ललित मोहन ने स्वयं को अपने कार्य में, अर्थात् वैज्ञानिक खोज में, इतना एकाग्र और व्यस्त कर लिया कि वे अपने बाप-पुरखों के परिवार और गाँव-समाज को भी भूलते चले गए। यों, जब ललित मोहन गाँव में थे, तब भी गाँव-समाज से उनका उतना सम्बन्ध नहीं था, जितना सम्बन्ध दूसरों का रहता है और रखना भी चाहिए। एक तो वैसे ही उनका जन्म ऐसे परिवार में हुआ था, जिसका गाँव-समाज के परिवारों से कोई विशेष मतलब नहीं था। उस पर ललित मोहन स्वयं भी ऐसे थे कि उनका अधिक समय स्कूल और कॉलेज में ही बीता।

समय अपनी गति से चलता ही रहता है। लोग उस गति को ठीक-ठीक समझ पाएँ या न समझ पाएँ, पर इतना तो सभी समझते हैं कि आज जो दिन, तारीख और महीना है, वह कल नहीं रहेगा। इतना ही क्यों, यह भी सभी जानते हैं कि अभी बारह बजकर पाँच मिनट हो रहे हैं, पर यह क्षण-क्षण, पल-पल आगे बढ़ता हुआ आज की तारीख या आज के दिन में फिर बारह बजकर पाँच मिनट नहीं रहेगा। यदि फिर वही समय आएगा भी, तो वह बदले हुए दिन और बदली हुई तारीख का होगा। इसी प्रकार आज जो मैं या आप हैं, हम कल वैसे नहीं रहेंगे। यही गतिशीलता है। सब कुछ गतिशील है। आप या मेरे कारण समय की गति थोड़े ही रुक जाएगी।

समय अपनी गति से सदा आगे बढ़ता रहा। उसी गति के अनुसार ललित मोहन और सुशोभिता को एक बेटा और एक बेटी हुए। सुशोभिता नौकरी नहीं करती थीं, पर दोनों बच्चों, बेटा और बेटी, का पालन-पोषण

वे अच्छी तरह करती थीं। फिर अमेरिका में सुविधाएँ तो थीं ही।

जब बेटा-बेटी विद्यालय जाने योग्य हो गए, तब दोनों का नाम स्कूल में लिखवा दिया गया। वहाँ का जीवन अपने देश के किसान परिवारों जैसा नहीं था। एक तो ललित मोहन स्वयं भी और सुशोभिता भी बेटा-बेटी की पढ़ाई-लिखाई पर बराबर ध्यान रखते थे।

ललित मोहन और सुशोभिता को वहाँ, अर्थात् अमेरिका में, नागरिकता नहीं मिली थी, पर वहाँ के नियम-कानून के अनुसार जिसका जन्म अमेरिका में होता है, उसे वहाँ की नागरिकता मिल ही जाती है। इसी आधार पर उनके दोनों बच्चों को, अर्थात् बेटे और बेटी को, नागरिकता मिल गई।

निशिकान्त, अर्थात् ललित मोहन का बेटा, इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त कर इंजीनियर बन गया। पर बेटी पद्मावती ने विज्ञान की पढ़ाई नहीं की, उसने एम.कॉम. किया। अपने यहाँ के संस्कार और संस्कृति से अमेरिका के संस्कार और संस्कृति भिन्न हैं। अपने यहाँ परिवार का प्रभाव बच्चों पर जिस रूप में पड़ता है, अमेरिका में उसका रूप अलग है। बी.कॉम. करने के बाद पद्मावती माता-पिता से कुछ कहे बिना परिवार से निकलकर एक व्यवसायी से विवाह कर अलग चली गई।

पढ़ाई पूरी करने के बाद निशिकान्त वेतन और सुविधा देखकर अमेरिका से दक्षिण कोरिया नौकरी करने चला गया। परिवार में केवल दोनों जन, ललित मोहन और सुशोभिता, रह गए।

यों, ललित मोहन ने अमेरिका में अपना मकान भी खरीद लिया था।

समय आगे बढ़ता गया। पैंतीस वर्षों की नौकरी के बाद ललित मोहन सेवानिवृत्त हो गए। अब दोनों की उम्र जीवन की ढलान पर पहुँच चुकी थी। अर्थात् ललित मोहन और सुशोभिता साठ वर्ष से ऊपर की उम्र में चल रहे थे। ललित मोहन के हाथ का काम भी छूट गया था।

जीवन की ढलान पर पहुँचने के बाद जिस प्रकार ललित मोहन के मन में अपना गाँव, अपना परिवार और अपना देश-दुनिया नाचने लगा, उसी प्रकार सुशोभिता के मन में भी ये सब बार-बार उठने लगे। यों, ललित मोहन अमेरिका के वातावरण और वहाँ के व्यवहार में इतने रच-बस गए थे कि अपना गाँव-समाज उन्हें याद तो आता था, पर वह केवल स्मृति के रूप में था। स्मृति के रूप में रह जाने का कारण उनका अपना जीवन ही था। बचपन से ही वे परिवार से अलग रहकर स्कूल-कॉलेज में जीवन बिताते रहे, इसलिए परिवार और समाज के साथ उनका वह सम्बन्ध बन ही नहीं पाया, जो परिवार और समाज में रहनेवाले व्यक्ति का बनता है।

सुशोभिता ने बचपन से लेकर बीस वर्ष की उम्र तक अपना समय भरे-पूरे परिवार में बिताया था। आरम्भ में जब उन्होंने पति, अर्थात् ललित मोहन के साथ अमेरिका जाने की बात सुनी थी, तब अमेरिका प्रवास को लेकर उनके मन में जो उत्साह था, वह वहाँ रहने के बाद धीरे-धीरे कम होने लगा। अपने परिवार की स्मृति और गाँव-समाज की सखी-बहनों जैसा अपनापन रखनेवाले सम्बन्ध भी धीरे-धीरे उनके मन में इस प्रकार जागने लगे कि अमेरिका में एक दिन भी रहना उन्हें पहाड़ जैसा लगने लगा। मनुष्य में यह गुण तो होता ही है कि वह कहीं भी क्यों न रहे, मनुष्य कहीं भी रहे, समाज और आत्मीय सम्बन्धों का आकर्षण उसे अपनी ओर खींचता ही है। यही गुण सुशोभिता को इस तरह खींचने लगा कि उन्हें लगने लगा, जैसे अमेरिका का जीवन किसी तरह काटा जा रहा है। वे साफ देख रही थीं कि दिनोदिन जैसे-जैसे समय बीतता जाएगा, वैसे-वैसे शरीर की शक्ति भी घटती जाएगी और अनेक प्रकार के रोग-व्याधि दोनों को घेर ही लेंगे। तब कौन होगा जो बुढ़ापे की लाठी बनेगा, अर्थात् बुढ़ापे में सेवा करेगा?

सुशोभिता यह भी देख रही थीं कि अपने देश में, अर्थात् भारत में,

परिवार के वृद्धजनों को कितना महत्व दिया जाता है और परिवार के लोग उनकी किस तरह सेवा करते हैं। वह यहाँ तो नहीं होगा। यहाँ तो यह देखा जाता है कि जिनके परिवार में संतान रहते हुए भी हैं, उन्हें भी उनके बेटा-बेटी छोड़कर वृद्धाश्रम भेज देते हैं। अपना देश केवल मिट्टी और पानी से ही बना हुआ नहीं है। अपने देश में जैसी सामाजिकता है, वैसा ही पारिवारिक अपनापन भी है। साल भर में अनेक पर्व-त्योहार होते हैं। परिवार से लेकर समाज तक अनेक काम-काज, विवाह, मूड़न, श्राद्ध आदि भी होते ही रहते हैं।

यों, ललित मोहन के मन को भी अपना परिवार और अपना समाज खींच ही रहा था, पर अपने किए हुए काम और अपने विचार उन्हें भीतर-ही-भीतर कष्ट सहने के लिए विवश भी कर रहे थे। कहते भी तो किससे कहते? कौन सुननेवाला था जो सुनता? अपना भविष्य देखते हुए दोनों के मन में दिनोदिन भीतर-ही-भीतर चिन्ता बढ़ती जा रही थी। दोनों, ललित मोहन और सुशोभिता, यह देख ही रहे थे कि बेटा-बेटी से कोई आशा नहीं है। ललित मोहन के मन में अपना किया हुआ काम भी यादा आता था। अमेरिका जाने के बाद जैसे उन्होंने अपने माता-पिता की कोई सेवा नहीं की थी, वैसे ही अब उन्हें अपना भविष्य भी दिखाई दे रहा था। यही जीवन है। कोई अपने जीवन को अच्छे जीवन के साँचे में ढालकर हँसते हुए मृत्यु का वरण करता है और कोई मृत्यु से पहले ही मृत्यु को प्राप्त कर रोते हुए मृत्यु का वरण करता है। कबीरदास भी मानो यही कहते हैं कि मनुष्य रोते हुए धरती पर आता है, पर उसे हँसते हुए जाना चाहिए।

सेवानिवृत्ति के एक वर्ष बाद दोनों के भीतर उठते विचार इस तरह उथल-पुथल होकर टूटने लगे कि अंततः ललित मोहन ने अपना मकान बेचकर गाँव का रास्ता पकड़ लिया।

पैंतीस वर्ष पहले का गाँव बदलते-बदलते अब जिस रूप में उनके

सामने था, उसे देखकर ललित मोहन और सुशोभिता दोनों को शंका होने लगा कि क्या यही अपने पूर्वजों का गाँव है या वे किसी दूसरे गाँव में चले आए हैं! जाते समय जिन्होंने उन्हें विदा किया था, अर्थात् माता-पिता और अग्रज, उनमें से कोई नहीं था। गाँव की जो शक्ल-सूरत थी, उसका भी कुछ शेष नहीं रहा था। सब कुछ बिल्कुल अपरिचित! जिस गाँव में प्राथमिक विद्यालय भी नहीं था, उस गाँव में अब हाई स्कूल बन गया था। जिस गाँव में मिट्टी के बाँध और सड़कें थीं, अर्थात् कच्चे रास्ते थे, वहाँ ऐसी पक्की सड़क बन गई थी, जिस पर बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ चल रही थीं।

आज ललित मोहन को गाँव आए सात दिन हो गए थे। अपने पूर्वजों का जो परिवार था, उसने रहने के लिए घर तो दे दिया था, पर ललित मोहन ने अपना बनाया हुआ कुछ भी नहीं छोड़ा था, इसलिए वे अपने ही परिवार में प्रवासी की तरह लगते थे। गाँव की जो अगली पीढ़ी थी, वह नाम-ठिकाने से तो ललित मोहन को जानती थी, पर जीवन में उस ललित मोहन ने किसी का कोई उपकार तो किया नहीं था। फिर कोई क्यों उनके पास बैठकर अपने जीवन की कथा कहता और उनके जीवन की कथा सुनता? आज ललित मोहन अपने पूर्वजों के बनाए हुए गाँव का दर्शन सचमुच कर रहे थे। ❑

अमृत

☰

अमृत और विष परस्पर विपरीतार्थक शब्द हैं। एक जीवन का प्रतीक है, दूसरा मृत्यु का। 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग मनुष्य के प्राण-तत्त्व के अंत को सूचित करने के लिए किया जाता है। कारण यह है कि मृत्यु के बाद शरीर तो वैसा ही रहता है, पर उसकी चेतन-शक्ति, उसका प्राण-तत्त्व समाप्त हो जाता है। इसी कारण मृत्यु के पश्चात शरीर जीवित अवस्था की तरह क्रियाशील नहीं रह पाता; वह निष्क्रिय हो जाता है।

हमारे यहाँ अध्यात्म-चिंतन में शरीर को तीन रूपों में समझा गया है: स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। स्थूल शरीर की मृत्यु होती है, पर शेष दोनों, यानी सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की मृत्यु तत्काल नहीं होती। यद्यपि कालक्रम में सूक्ष्म और कारण शरीर का भी अंत माना गया है, पर वह प्रक्रिया हमारे द्वारा देखी जानेवाली सामान्य मृत्यु जैसी नहीं होती। उसका आधार भिन्न है, किंतु उस विषय पर हम अभी चर्चा नहीं करेंगे।

यों, हम मृत्यु का अर्थ शरीर की प्राण-शक्ति और चेतन-शक्ति के समाप्त हो जाने के रूप में समझते हैं। मृत्यु और अमृत जीवन के तत्त्व हैं। जीवन का अमृत-तत्त्व वह है, जो जीवन को उसके वास्तविक, सार्थक और चेतन रूप में प्रतिष्ठित करता है; और मृत्यु केवल प्राण-त्याग नहीं, बल्कि वह अवस्था भी है जिसमें जीवित रहते हुए मनुष्य रोग, व्याधि, कष्ट और दु:ख से घिरकर मृत्यु-जैसा जीवन जीता है।

अमृत-तत्त्व की चर्चा भागवत महापुराण में विस्तार से हुई है। भागवत पुराण के आठवें स्कन्ध के सातवें अध्याय में समुद्र-मंथन का प्रसंग भी विस्तार से आया है। समुद्र-मंथन की यह कथा हमारे समाज में आज से नहीं, बहुत पहले से कही-सुनी जाती रही है और जन-जन की स्मृति में बसी हुई है।

शुकदेवजी ने परीक्षित से कहा था कि देवता और असुर, दोनों ने मिलकर नागराज वासुकि से कहा, "समुद्र-मंथन से जो अमृत प्राप्त होगा, उसमें आपका भी हिस्सा होगा।"

अपना हिस्सा सुनकर नागराज वासुकि राजी हो गए। उनके राजी हो जाने के बाद देवता और असुर, दोनों ने नागराज वासुकि को नेती, अर्थात् मंथन-रस्सी, बनाकर मंदराचल पर्वत पर लपेट दिया और मंथन के लिए भली-भाँति तैयार हो गए। सबके मन में प्रसन्नता थी कि जैसे ही समुद्र-मंथन होगा, वैसे ही उसमें से अमृत निकलेगा, और उस अमृत का पान करने से सब अमर हो जाएँगे।

नागराज वासुकि को मंदराचल पर्वत पर लपेटकर अजित भगवान वासुकि के मुख की ओर जाकर खड़े हो गए। उनके ऐसा करते ही देवगण भी उसी ओर आ जुटे। पर भगवान की यह चेष्टा देखकर दैत्य-सेनापति को यह बात पसंद नहीं आई। उसने विरोध करते हुए कहा, "पूँछ तो साँप का अशुभ अंग है, इसलिए हमलोग उसे नहीं पकड़ेंगे।"

दैत्यगण की मनोवृत्ति देखकर भगवान मुस्कुराए। उन्होंने वासुकि के मुख का भाग छोड़ दिया और देवगण के साथ जाकर वासुकि की पूँछ पकड़ ली।

इस प्रकार अपना-अपना स्थान निश्चित कर देवता और असुर अमृत प्राप्त करने की पूरी तैयारी के साथ समुद्र-मंथन में लग गए। जब मंथन आरम्भ हुआ, तब समुद्र के भीतर रहनेवाले जीव-जन्तु, जैसे मछलियाँ, कछुए, मगरमच्छ आदि, अपने जीवन का अंत सामने देखकर

क्षुब्ध होने लगे। उनके भीतर आक्रोश उठने लगा, पर देव-दानव के इस प्रचंड आयोजन के सामने वे अपने को बेबस पाकर सोचने लगे कि अब किया भी क्या जा सकता है।

नागराज वासुकि के हजारों अग्निमय नेत्रों, मुख और श्वास से विष की ज्वाला निकलने लगी। उसके धुएँ से पौलोम, कालेय, बलि, इल्वल आदि असुर निस्तेज हो गए। उनमें समुद्र-मंथन करने की शक्ति ही नहीं रह गई। उसी प्रकार देवगण की शक्ति भी क्षीण पड़ने लगी। जैसे राक्षसगण हारे-थके दिखाई देने लगे, वैसे ही देवगण भी अपने को थका और पराजित अनुभव करने लगे। उनके शरीर पर धारण किए हुए वस्त्र, माला और कवच के साथ उनके मुख भी मलिन पड़ने लगे। ऐसी स्थिति में अमृत का निकलना असम्भव-सा प्रतीत होने लगा।

इसके बाद अजित भगवान स्वयं समुद्र-मंथन में प्रवृत्त हुए। मंथन हुआ और समुद्र से अमृत के साथ विष भी निकला।

समाज में ऐसी चर्चा प्रचलित है कि देवगण और राक्षसगण एक साथ पंक्ति लगाकर बैठे और अमृत का बँटवारा देवगण की ओर से शुरू हुआ। आगे की कथा राहु-केतु से भी जुड़ती है।

इस धरती पर, इस मनुष्य-लोक में, समुद्र-मंथन केवल एक बार नहीं, अनेक बार हुआ है; पर उसकी चर्चा अभी नहीं करेंगे। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि समुद्र-मंथन है क्या?

दरवाज़े पर बैठा मैं मन-ही-मन यही विचार कर रहा था कि ब्रह्मस्थान में आज तेरह दिनों से भागवत कथा चल रही है, परसों समाप्त होगी। ऐसी कथा केवल इसी बार नहीं हो रही है; साल-दर-साल कार्तिक मास में होती आई है। वह भी केवल ब्रह्मस्थान पर ही नहीं, गाँव-समाज के बीच, व्यक्तिगत रूप से, लोगों के अपने-अपने दरवाज़े पर भी होती रही है। यहाँ यह भी कह देना उचित है कि भागवत कथा न तो हर गाँव में होती है और न समाज के हर दरवाज़े पर। किसी-किसी गाँव में और

किसी-किसी दरवाज़े पर होती है; हर जगह नहीं।

अपने गाँव कृष्णपुर के ब्रह्मस्थान, यानी डिहवार-स्थान में, जाने कितने वर्षों से साल-दर-साल भागवत कथा होती आ रही है। गाँव के ही वैदिकजी हैं, जिनका नाम रघुवंश है। रघुवंश संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन का कार्य भी करते हैं। वही कार्तिक अमावस्या के अगले दिन, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से कथा आरम्भ कर पूर्णिमा के दिन उसे सम्पन्न करते हैं। कृष्णपुर गाँव के समाज से व्यासजी को अच्छा सहयोग मिलता है। सहयोग दोनों प्रकार का होता है। पहला, समाज के लोग प्रतिदिन दोपहर के बाद संध्या-पहर में कथा सुनने आते हैं; और दूसरा, आर्थिक रूप से जिससे जो बन पड़ता है, वह भी अर्पित करता है। भागवत कथा समाप्त होने के बाद आरती के साथ प्रतिदिन प्रसाद-वितरण भी होता है, जो समाज के सहयोग से ही आता है।

दरवाज़े पर बैठे-बैठे मैं मन-ही-मन यही सब सोच रहा था कि तभी कलाधर आ पहुँचा। कलाधर कॉलेज में पढ़ता है। दरवाज़े पर पहुँचते ही वह मेरे पास आया और बोला, “काका, बहुत चिन्तित दिख रहे हैं?”

यों, मेरा चेहरा देखकर कलाधर ने ऐसा कहा था, पर मैं न किसी पारिवारिक चिन्ता से चिन्तित था, न अपने किसी व्यक्तिगत रोग-व्याधि से। मैं भागवत कथा के विषय में चिन्तन कर रहा था, इसलिए चेहरे पर चिन्ता-जैसा भाव आ गया था। उसी को देखकर कलाधर ने ऐसा कहा था। मैंने कहा, “बौआ कला, कहाँ चिन्तित हूँ! मन में ब्रह्मस्थान की भागवत कथा आ गई थी। वही सोच रहा था कि जिस समाज में, जिस गाँव में, साल-दर-साल सामूहिक रूप से भागवत कथा होती आ रही है, उस गाँव के समाज में भगवतपन कितना आया?”

ए युग की नई पीढ़ी के युवक कलाधर ने पूछ दिया, “काका, भगवतपन क्या है?”

यों, मैं भगवतपन के विषय में थोड़ा-बहुत जानता था, पर जैसे

किसी अबोध बच्चे से अचानक कोई प्रश्न पूछ दिया जाए तो वह अपने ही ज्ञान पर विश्वास न कर सकने के कारण सकपका जाता है और उत्तर नहीं दे पाता, वैसा ही मेरे साथ भी हुआ। मन में यह भी उठ रहा था कि मैंने तो हाई स्कूल के दरवाज़े से आगे की पढ़ाई देखी नहीं, जबकि कलाधर पाँच वर्षों से कॉलेज में पढ़ रहा है। यदि मैं एक प्रश्न का उत्तर दूँ और उसके बाद वह दूसरा प्रश्न पूछ दे, तब क्या करूँगा? परिवेश ऐसा बन गया है कि लोग चिन्तन-मनन कम करते हैं और दिन भर बात बनाने में अधिक लगे रहते हैं। इसलिए मुझे लगा कि अपना भार हल्का कर कलाधर को ऐसा उत्तर देना चाहिए, जिससे बात आगे सही जगह पहुँचे। मैंने कहा, "बौआ कला, तुम्हारी बुद्धि जितनी आगे बढ़ गई है, उसके अनुरूप मेरे पास इतना कहाँ है कि तुम्हें संतोषजनक उत्तर दे सकूँ। यों, मेरे मन में भी यह प्रश्न उठ ही रहा है कि भगवतपन क्या है। इसलिए अच्छा होगा कि हम दोनों रघुवंश भाई से ही क्यों न पूछ लें।"

मेरा विचार सुनकर कलाधर ठिठक गया। कुछ देर बाद बोला, "बहुत बढ़िया।"

मैंने कहा, "परसों भागवत कथा सम्पन्न होगी। इस बीच रघुवंश भाई से पूछना उचित नहीं होगा। उनका मन अभी अगले प्रकरण में, यानी भागवत कथा के अगले विषय में लगा रहेगा। उनसे अभी कुछ पूछना कथा-विषय की कड़ी में बाधा डालना होगा। इसलिए अच्छा होगा कि कथा समाप्त होने के बाद चौथे या पाँचवें दिन का समय बनाओ और हम दोनों चलकर उनसे पूछ लें।"

जैसा मैंने विचार रखा, कलाधर ने भी वैसा ही मान लिया। बोला, "चौथे दिन नहीं, पाँचवें दिन का समय बनाइए, क्योंकि रघुवंश काका को पन्द्रह दिनों की थकान भी रहेगी।"

पाँचवें दिन, यानी भागवत कथा समाप्त होने के तीसरे दिन, हम दोनों, मैं और कलाधर, रघुवंश भाई के यहाँ पहुँचे। उनके पास जाकर

मैंने कहा, "प्रणाम, भाई।"

रघुवंश भाई पन्द्रह दिनों से भागवत कथा के पाठ और व्याख्यान में लगे हुए थे, इसलिए उनकी आवाज बैठ गई थी। फिर भी प्रणाम का उत्तर देते हुए वे बोले, "इस बार की कथा का समाज पर कैसा प्रभाव रहा, जीवानन्द?"

मैंने कहा, "भाई, जैसे बाँस या कोई वृक्ष साल-दर-साल बढ़ता जाता है और उसमें मजबूती तथा सार आता जाता है, वैसे ही आप में भी परिपक्वता आई है। इसलिए कथा-पाठ भी बहुत अच्छा हुआ और कथा की व्याख्या भी।"

मैं उनसे यह कैसे कहता कि अब गाँव के लोग भागवत कथा सुनने कहाँ आते हैं। बहुत-से लोग तो सार्वजनिक स्थानों पर अपना फैशन, अपनी चाल-ढाल और अपनी सामाजिक उपस्थिति दिखाने भर आते हैं। जैसे मैंने प्रशंसात्मक शैली में कहा था, वैसे ही रघुवंश भाई भी प्रसन्नता से गद-गद होकर बोले, "जीवानन्द, मन में अनेक प्रकार के विचार थे, पर वे सब नहीं कहा। जैसे हर साल प्रवचन करता आया हूँ, वैसे ही इस बार भी प्रवचन किया।"

मैंने पूछा, "इस बार आमदनी कैसी रही?"

रघुवंश भाई बोले, "परिवेश ऐसा बन गया है कि पहले जैसे लोग पूजा-पाठ भूलते जा रहे थे और उस पर खर्च करने में कंजूसी करते थे, वैसा इस बार नहीं हुआ। मोटा-मोटी यही समझो कि जितनी आमदनी पिछले पाँच वर्षों में हुई थी, उतनी इस बार हो गई। जैसे नगद-नारायण मिला, वैसे ही कपड़ा-वस्त्र भी मिला।"

गप-शप में समय लगते देख कलाधर को भीतर-ही-भीतर जैसे क्रोध आने लगा। उसका चेहरा देखकर मैंने कहा, "भाई, एक प्रश्न लेकर आए हैं।"

रघुवंश भाई के मन में आमदनी की प्रसन्नता तो थी ही, उस पर

प्रश्न की बात सुनकर उनके भीतर और भी उत्सुकता जाग उठी। वे बोले, “क्या प्रश्न?”

रघुवंश भाई के मुँह से प्रश्न जानने की जिज्ञासा सुनकर कलाधर बोला, “काका, भगवतपन क्या है?”

कलाधर का प्रश्न सुनकर रघुवंश भाई मन-ही-मन विषय को व्यवस्थित करने लगे। जब कॉलेज का विद्यार्थी कलाधर पूछ रहा है, तब उसे इस तरह उत्तर देना चाहिए कि भागवत महापुराण का भाव भी स्पष्ट हो और बात उसके मन तक भी पहुँचे। मन-ही-मन विचार की कड़ी मिलाते हुए रघुवंश भाई बोले, “बौआ कला! दुनिया से प्रेम करना, मनुष्य से लेकर जीव-जन्तु तक से प्रेम करना ही भगवतपन है। जैसे अंक एक-दो से आरम्भ होकर सौ, हजार, लाख, करोड़ से बढ़ते हुए अरब-खरब तक पहुँचते हैं, वैसे ही अक्षर भी अ-आ से आरम्भ होकर शास्त्र, पुराण, उपनिषद और वेद तक पहुँचते हैं। जीवन में प्रेम भी उसी तरह छोटा नहीं रहता; वह धीरे-धीरे फैलता है, गहराता है और मनुष्य को व्यापक बनाता है।”

रघुवंश भाई का विचार कलाधर ठीक से समझ नहीं सका, इसलिए बोला, “काका, थोड़ा स्पष्ट करके कहिए।”

कलाधर का प्रश्न सुनकर रघुवंश भाई फिर मन-ही-मन विचारने लगे। उनके मन में आया कि वे तो भागवत कथा पढ़ने और उसकी व्याख्या करने के अभ्यस्त हैं, इसलिए अपने ढंग से बोल गए; पर कलाधर वैसा नहीं है। उसके मन को जिस ढंग से बात स्वीकार होगी, उसी ढंग से उत्तर देंगे, तभी वह समझ पाएगा। विषय को सरल करते हुए रघुवंश भाई बोले, “बौआ! दुनिया में, जीवन-जगत में, सबसे अमूल्य वस्तु प्रेम है। मतलब, एक-दूसरे से प्रेम करना। जिससे जितना अधिक प्रेम होगा, वह उतना ही अधिक हमारे हृदय में आकर बसेगा। तुम देखते भी हो और यह प्रत्यक्ष भी है कि प्रतिदिन दुनिया में हजारों-लाखों लोग मरते हैं, पर

उनका दु:ख सबको कहाँ होता है? मनुष्य को दु:ख उतना ही गहरा होता है, जितना अपने निकट के व्यक्ति के मरने पर होता है। निकटता प्रेम से बनती है और प्रेम ही दु:ख-सुख को अपना बना देता है।"

रघुवंश भाई का विचार कलाधर आधा-अधूरा समझ भी सका और आधा-अधूरा नहीं भी समझ सका। मैं भी तो बीच में था ही, इसलिए रघुवंश भाई के विचार का समर्थन करते हुए बोला, "हाँ, यह तो होता ही है।"

विषय को आगे बढ़ाते हुए रघुवंश भाई बोले, "जीवानन्द, भागवत महापुराण का एक बड़ा भाव समुद्र-मंथन में प्रकट होता है। समुद्र-मंथन क्या है? वह यही है कि मनुष्य किस प्रकार मनुष्य बने, मनुष्यता प्राप्त करते हुए देवतुल्य बने। जीवन की दो दिशाएँ हैं। एक है अमृत-तत्त्व प्राप्त करना और दूसरी है विष-तत्त्व की ओर गिरना। जब मनुष्य अमृत-तत्त्व प्राप्त करने के लिए सुमार्ग पकड़कर आगे बढ़ता है, तब उसमें प्रेम, करुणा, दया आदि सद्गुण आते जाते हैं। फिर एक दिन ऐसी स्थिति आती है, जब वह देव-स्वरूप बनकर सबके हृदय में वास करने लगता है। दूसरी दिशा वह है, जिस पर चलकर मनुष्य उस अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे राक्षस का रूप कहा जा सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा आदि दुर्गुणों से घिरकर वह जीव-जगत की दृष्टि में घृणा का पात्र बन जाता है।"

रघुवंश भाई का विचार सुनकर कलाधर ने लंबी साँस छोड़ी, पर मुँह से कुछ नहीं कहा। कलाधर के मनोभाव को समझकर रघुवंश भाई फिर बोले, "बौआ कला, रामायण में तुलसीदास ने कहा है, 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।' जैसे जीवन अनन्त है, वैसे ही दुनिया भी अनन्त है। इसलिए सारी बातें तुरंत समझ ही जाओगे, यह सम्भव नहीं है। पर इतना तो सम्भव है कि जब तुम्हें ज्ञान से प्रेम होगा और उस दिशा में ज्ञान का प्रेमी बनकर आगे बढ़ोगे, तब भगवतपन क्या है, इसे अच्छी तरह समझ

जाओगे। अभी इतना ही समझो कि हर मनुष्य जीवन चाहता है, ज्ञान चाहता है और सुखपूर्वक स्वतंत्र जीवन जीना चाहता है। पर सच्ची स्वतंत्रता वही है, जिसमें मनुष्य पहले स्वयं को अनुशासित करना सीखता है। यहाँ शासन का अर्थ दूसरों पर शासन करना नहीं, बल्कि अपने भीतर के काम, क्रोध, लोभ और मोह पर संयम स्थापित करना है।" ❑

समय लद गया

☰

पन्द्रह वर्ष बाद कोलकाता से मैं गाँव आया। नौकरी करने के लिए कोलकाता गया था। बी.ए. पास करने के बाद जब गाँव में नौकरी का कोई जुगाड़ नहीं लगा, तब ममेरे भाई के साथ कोलकाता चला गया। वहाँ सरकारी नौकरी तो नहीं मिली, पर दवा की एक विदेशी प्राइवेट कम्पनी में काम मिल गया। वेतन भी अच्छा था और काम की सुविधा भी मिली। नौकरी लगने के छह महीने बाद परिवार को भी साथ ले गया। यों, माँ और बाबूजी दोनों गुजर चुके थे और भैयारी में भी मैं अकेला ही हूँ।

दूसरे शहरों की अपेक्षा कोलकाता बड़ा भी है और घर बनाने की जमीन भी अपेक्षाकृत सस्ती थी। दूसरे शहरों की बात तो केवल कानों से सुनी है, आँखों से एक भी शहर देखा नहीं। कहीं गया होता या कहीं रहा होता, तब न! न तो कहीं गया हूँ और न कहीं रहा हूँ।

शुरू के दिनों में, जब नौकरी मिली, तब किराए के घर में रहने लगा। परिवार भी छोटा ही था। पत्नी साथ थी और केवल दो बच्चे थे, एक बेटा और एक बेटी। आठ घंटे कम्पनी में काम करता था और बाकी समय में चार घंटे ट्यूशन पढ़ाता था।

शुरू में बांग्ला नहीं समझता था, पर हिंदी से काम चल जाता था। धीरे-धीरे बांग्ला भी सीख ली। अपने इलाके के बच्चों को पढ़ाता था। अपने इलाके, यानी बिहार के बहुत-से लोग कोलकाता में रहते ही हैं। कोई सरकारी नौकरी करता है, कोई प्राइवेट कम्पनी में काम करता है

और बहुतों का अपना व्यवसाय भी है। रिक्शा-टेम्पू चलानेवाले और मिट्टी-मजदूरी करनेवाले लोग भी थे और अब भी हैं।

गाँव का जो जीवन था, यानी कोलकाता जाने से पहले का जीवन, उसने गरीबी से पूरा परिचय करा ही दिया था। इसलिए पैसे का महत्व भी अच्छी तरह समझ में आ गया था।

कोलकाता में साल भर नौकरी करने के बाद एक कट्ठा जमीन इसी सोच से खरीदी कि मकान बनाकर यहीं रहूँगा। समय के साथ अपना जीवन भी आगे की ओर सरकता रहा। ईमानदारी को अपना धर्म समझकर कम्पनी में काम करता रहा।

डेढ़ वर्ष बाद, जब नौकरी को डेढ़ वर्ष हो गया, मेरा प्रमोशन हुआ। साधारण किरानी से जिम्मेदार अफसर बन गया। वेतन भी बढ़ा और कम्पनी की ओर से कई सुविधाएँ भी मिलने लगीं। दवा की यह विदेशी कम्पनी देश के कई शहरों में काम करती थी। अब आधे से अधिक समय कोलकाता से दूसरे शहरों में आने-जाने में बीतने लगा।

जब मेरा प्रमोशन हुआ और कम्पनी के काम से दूसरे शहरों में जाना शुरू हुआ, तब ट्यूशन पढ़ाने का काम छूट गया। महीने में पन्द्रह दिन से अधिक समय बाहर ही रहने लगा। बाहर की यात्रा के लिए कम्पनी की ओर से और भी सुविधाएँ मिलने लगीं, जिससे आमदनी में भी बढ़ोतरी हो गई।

दोनों बच्चों का नाम अपने डेरे के बगल के एक प्राइवेट स्कूल में लिखवा दिया। वैसे, बड़ी बेटी और छोटे बेटे के बीच दो वर्ष का अन्तर है। दोनों का नाम साथ-साथ, एक ही स्कूल में, एक कक्षा आगे-पीछे लिखवाया।

पत्नी पढ़ी-लिखी नहीं हैं। अब तो मिथिलांचल में लड़कियाँ पढ़ने-लिखने लगी हैं, पर कुछ वर्ष पहले ऐसी बात नहीं थी। वैसे, पढ़ाई के मामले में आज भी अपने यहाँ का समाज पिछड़ा हुआ है। फिर भी

लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की संख्या कुछ अधिक है।

कोलकाता आने के दो वर्ष बाद अपना घर बना लिया। जब अपना घर हो गया, तब किराए का घर छोड़कर अपने घर में रहने लगा।

समय अपनी गति से आगे बढ़ता रहा। पन्द्रह वर्ष कैसे बीत गए, इसका पता ही नहीं चला। इसी बीच बेटी भी विवाह योग्य हो गई और बेटा भी कॉलेज में पढ़ने लगा।

जब हम दोनों पति-पत्नी बेटी के विवाह के बारे में सोचने लगे, तब विचारों में मतभेद हो गया। मेरा विचार था कि जब गाँव छोड़कर शहर में, यानी कोलकाता में, घर बना लिया है, तब बेटी का विवाह भी कोलकाता में ही करूँगा। अपने इलाके के बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो कोलकाता में नौकरी भी करते हैं और अपना कारोबार भी चलाते हैं। अपना घर भी बना ही चुके हैं।

लेकिन पत्नी का विचार था कि बेटी का विवाह अपने ही इलाके में, यानी मिथिलांचल के किसी गाँव में करेंगे।

हम दोनों पति-पत्नी के विचारों में मतभेद का कारण दो तरह का समाज था।

अपने इलाके का समाज, यानी मिथिलांचल का समाज, और बंगाल का समाज, दोनों में आज भी कुछ विशेष अन्तर है ही। यों, जब गाँव में कारोबार बढ़ता है, लोग पढ़ते-लिखते हैं और गाँव का रूप बदलने लगता है, तब स्वाभाविक रूप से बहुत कुछ अन्तर आ ही जाता है। वैसे, एक ही परिवार में भी देखा जाता है कि एक ही माता-पिता की संतानों में से एक भाई पढ़-लिखकर नौकरी करता है और दूसरा भाई बिना पढ़े-लिखे गिरहस्ती सँभालता है, तो दोनों के आचार-विचार और जीवन-शैली में भी अन्तर आ जाता है।

यों, कोलकाता में अपने इलाके के इतने लोग रहते हैं कि वहाँ भी गाँव जैसा ही लगने लगता है। लोग अपने बेटे-बेटियों के विवाह भी वहीं

कर रहे हैं। कहा भी जाता रहा है कि जहाँ बस जाओ, वही सुन्दर देश हो जाता है।

कोलकाता में अपना घर बना लिया, नौकरी भी करता हूँ, जिससे जीवन-यापन भी चल रहा है, पर मन में अब भी अपना गाँव उसी तरह बसा हुआ है। अब भी मन यही मानता है कि नौकरी से सेवानिवृत्त होने के बाद गाँव में ही रहूँगा।

एक महीने की छुट्टी लेकर गाँव आया। अपना घर-दुआर तो ढह-ढनमना गया था, पर वास भूमि तो थी ही। अपने दियादी परिवार के लोग भी गाँव में हैं ही।

जिस समय मैं गाँव छोड़कर कोलकाता गया था, उस समय का गाँव अब बहुत बदल चुका है। पाँच सौ बीघे के रकबे वाले गाँव का जितना मूल्य उस समय था, उससे अधिक मूल्य की तो अब सड़क बन गई है। यों भी देखता हूँ कि जब मैं गाँव से कोलकाता गया था, आज से पन्द्रह वर्ष पहले, तब गाँव की जमीन का औसत मूल्य पाँच सौ रुपये कट्ठा था।

गाँव में तीन प्रकार की जमीन तब भी थी और अब भी है। पहली, ऊँची या भीठ जमीन, जो घर बनाने के लिए उपयुक्त मानी जाती है। ऐसी जमीन की कीमत तब हजार रुपये प्रति कट्ठा थी। दूसरी, मध्यम जमीन, जहाँ घर बनाया जा सकता है, पर उसमें दो-अढ़ाई हाथ मिट्टी भरनी पड़ती है। ऐसी जमीन का मूल्य पाँच सौ रुपये कट्ठा था। और तीसरी, नीची या चौरी जमीन, जिसकी उपज का कोई भरोसा नहीं, जिसमें साल के आठ महीने पानी रहता है। ऐसी जमीन की कीमत तब सौ से दो सौ रुपये कट्ठा थी।

गाँव के कुल रकबे की लगभग तीन-चौथाई जमीन चौरी है। मोटे तौर पर जितना मूल्य तब पाँच सौ बीघा जमीन का था, उससे अधिक मूल्य की अब गाँव में सड़क है। साथ ही, और भी सरकारी भवन बन गए

हैं।

गाँव आने से पहले, जब मन में गाँव जाने का विचार आया, तब यह भी सोचा कि जब गाँव जा ही रहा हूँ, तो क्यों न अपने दियादी परिवार के चारों घरों के लोगों के लिए कपड़ा-वस्त्र लेता चलूँ। पन्द्रह वर्ष पहले की दशा देखी हुई थी। देखा था कि जैसे परिवार-परिवार में खाने-पीने का अभाव था, वैसे ही कपड़ा-वस्त्र और रहने के घर की भी तंगी थी। कोलकाता आने के बाद मेरे अपने जीवन में सुधार हुआ, पर गाँव का परिवार तो अब भी वैसा ही होगा, जैसा देखकर गया था। यही सोचकर चारों परिवारों के अट्ठाईसों लोगों के लिए, बच्चों से लेकर वृद्धों तक, कपड़े खरीदकर साथ लेकर गाँव आया।

गाँव आते ही अपने निकट चचेरे भाई के दरवाज़े पर पहुँचा, जो सहोदर भाई जैसे ही हैं। अपना घर भी बगल में ही है, पर वह इस तरह गिर-पड़ गया है कि रहने योग्य नहीं रहा। मिथिलांचल अब भी वही मिथिला है, जहाँ आचार-विचार और व्यवहार पूरी तरह भले जीवित न हों, पर आंशिक रूप से तो जीवित हैं ही। चचेरे भाई के दरवाज़े पर पहुँचते ही भाभी पहचान गईं। मैंने भी उन्हें पहचान लिया। दरवाज़े पर बैठने से पहले ही भाभी लोटे में पानी लेकर पास आ गईं। मैंने चौकी पर बैग रखकर भाभी को प्रणाम करते हुए कहा, “भाभी, आपने मुझे पहचाना या नहीं?”

हँसते हुए भाभी बोलीं, “अभी तो दिन है। अँधेरी रात में भी लोग अपने आदमी को पहचान ही लेते हैं। क्यों नहीं पहचानूँगी? बाल-बच्चों का हाल-चाल कहो।”

मैंने कहा, “आप सबकी दया से सब अच्छे हैं। अपने परिवार का समाचार कहिए।”

मैं और भाभी कुशल-क्षेम कर ही रहे थे कि अनुराधा, मेरी भतीजी, चाय लेकर पहुँच गई। जिस दिन मैं कोलकाता गया था, उस समय

अनुराधा चार वर्ष की बच्ची थी। अब वह विवाह योग्य हो गई थी, इसलिए पहचानने में मुझे थोड़ा संकोच हुआ। पर जब अनुराधा ने चाय का गिलास चौकी पर रखकर पाँव छूते हुए 'काका' कहा, तब मैंने ध्यान से याद किया कि यह मेरी बेटी से दो साल बड़ी भतीजी है, वही अनुराधा।

कुशल-समाचार चल ही रहा था कि तभी सोने भाई, मेरे चचेरे भाई, साइकिल पर बोरे में डीलर से चावल-गेहूँ लेकर पहुँच गए। बोरा देखकर मैंने अनुमान लगाया कि पचास किलो से ऊपर चावल-गेहूँ होगा। दरवाज़े के सामने सोने भाई ने साइकिल लगाई। उनका चेहरा देखकर समझ में आया कि भाई बूढ़े हो गए हैं। पर मैंने कुछ कहा नहीं। उनके पाँव छूकर प्रणाम करते हुए मन-ही-मन सोचने लगा कि यों तो लोग उम्र पाकर बूढ़े होते ही हैं, पर गरीबी और चिन्ता भी ऐसे रोग हैं कि मनुष्य को समय से पहले बूढ़ा कर देते हैं। जैसे आम का फल समय से पहले पककर भीतर से गलने लगता है, वैसे ही मनुष्य भी गरीबी और चिन्ता से समय से पहले बूढ़ा हो जाता है।

साइकिल से चावल और गेहूँ के दोनों बोरे उतारकर सोने भाई ने उन्हें आँगन के ओसारे पर रखा और दरवाज़े पर आकर बोले, "समाचार सब अच्छा है न, बौआ?"

मैंने कहा, "हाँ, सब ठीक-ठाक है। अपनी ओर का क्या समाचार है?"

मुस्कुराते हुए सोने भाई बोले, "सूखा पड़ने से गिरहस्ती तो चौपट ही हो गई, पर सरकारी अनाज मिल जाने से किसी तरह जी रहे हैं। फिर भी गिरहस्त के बच्चे हैं। जैसे कहा गया है कि एक गडू को बहत्तर आशाएँ, वैसे ही खेत की उपज की आशा अभी पूरी तरह मरी नहीं है। हाँ, गाय की आमदनी अच्छी है। किसी तरह पाँच सौ रुपये प्रतिदिन हो ही जाते हैं।"

पाँच सौ रुपये प्रतिदिन के हिसाब से मैंने मन-ही-मन विचार किया

कि महीने की आमदनी पन्द्रह हजार रुपये है।

दूसरे दिन सुबह मैंने सोने भाई से कहा, “भाई साहब, एक काम से आया हूँ।”

सोने भाई ने पूछा, “कैसा काम?”

मैंने कहा, “बेटी विवाह योग्य हो गई है। विचार है कि उसका विवाह अपनी मिट्टी-पानी पर, मिथिलांचल में ही करूँ। वैसे, अपने मैथिल परिवार कोलकाता में भी बहुत हैं, पर वह तो बंगाल का परिवार हुआ।”

मुस्कुराते हुए सोने भाई बोले, “अब वह समय थोड़े ही रहा। देखता हूँ कि लोग गाँव में बेटी का विवाह करते हैं और विवाह के बाद गाँव छोड़कर दूसरी जगह रहने चले जाते हैं। इसलिए केवल यह धारणा बनाकर बेटी का विवाह करना कि वह अपनी मिट्टी-पानी में रहेगी, अब समय के अनुकूल कहाँ रह गया है?”

भाई साहब का विचार सुनकर मेरे मन को भी लगा कि वे ठीक ही कह रहे हैं। दिन-रात ऐसी बातें देखने-सुनने को मिलती ही रहती हैं। मेरा विचार बदल गया।

शाम के समय जब सोकर उठा और चाय पीकर गाँव की ओर नज़र दौड़ाई, तब सियाराम का परिवार याद आया। जब गाँव में रहता था, तब सियाराम के परिवार से अपने परिवार की मित्रता थी। सियाराम जितने कर्मठ थे, उतने ही ईमानदार भी थे।

मैंने सोने भाई से पूछा, “भाई, सियाराम जीवित हैं या नहीं?”

अनमने होकर सोने भाई बोले, “जीते हुए भी मरा ही समझो।”

मैंने पूछा, “ऐसा क्यों, भाई?”

सोने भाई बोले, “पहले सियाराम में जो चुस्ती थी, वह अब नहीं रही। दो बेटे हैं। दोनों मुम्बई में नौकरी करते हैं। गाँव में पति-पत्नी अकेले रहते हैं।”

भाई साहब के मुँह से सियाराम का समाचार सुनकर मन में और जिज्ञासा जाग गई। अपने गाँव के जीवन में सियाराम का उपकार याद आया। मैंने कहा, "भाई साहब, यदि फुरसत हो तो हम दोनों भाई सियाराम के यहाँ चलें।"

हम दोनों भाई सियाराम से मिलने चल पड़े। सियाराम का घर अपने घर से थोड़ा हटकर दूसरे टोले में है। उनके यहाँ पहुँचते ही देखा कि पति-पत्नी दोनों दरवाज़े पर बैठे गप-सप कर रहे हैं। दोनों के चेहरे देखकर समझ में आया कि वे बिल्कुल झुनकुट, यानी जर्जर बूढ़े हो गए हैं। आँखों की ज्योति भी कम हो गई है।

दरवाज़े पर पहुँचते ही मैंने अधीर होकर कहा, "सियाराम भाई, मैं रविकान्त।"

नाम सुनकर सियाराम भाई चौंकते हुए बोले, "बौआ, मुझे तनिक भी आशा नहीं थी कि तुम्हारा मुँह देख सकूँगा। पर भगवान की लीला भी अपार है कि तुमसे भेंट हो गई।"

सियाराम भाई की दशा देखकर मेरे मन में हुआ कि यदि पिछली बात, पन्द्रह वर्ष पहले की बात पूछूँगा, तो वह घाव पर नमक छिड़कना होगा। इसलिए वह बात न पूछकर मैंने कहा, "भाई, इसी तरह यह दुनिया चलती है। बच्चा जन्म लेता है, धीरे-धीरे समझदार होता हुआ जवान होता है और वृद्ध होकर चला जाता है।"

मेरी बात सुनकर सियाराम भाई फूट-फूटकर रोने लगे। रोते हुए बोले, "बौआ रवि, कैसी अपनी दुनिया थी! जैसी गिरहस्ती थी, वैसा ही कारोबार था। समाज में किसका उपकार इस देह से नहीं हुआ। पर सब चला गया!"

मैंने कहा, "भाई, दुनिया की यही लीला है। किसी के रोकने से क्या कोई समय रुकता है?"

सियाराम भाई बोले, "बौआ, हमारा समय लद गया। जैसे खेती से

हल-बैल चले गए, वैसे ही सवारी और बोझ ढोने में टायरगाड़ी आ गई। कारोबार टूटने से हाथ-पाँव लूले हो गए। कैसा समय था और क्या हो गया! फिर भी जब तक इस धरती का अन्न-पानी लिखा है, तब तक जी रहे हैं। जिस दिन वह मिट जाएगा, उस दिन चले जाएँगे। भला हुआ कि तुम्हारा मुँह देख लिया।" ❑

समय की माँग

☰

गतिशील दुनिया में सब कुछ परिवर्तनशील है। समय की गति के साथ जो स्वयं गतिशील नहीं होता, उसका जीवन भी वैसा ही हो जाता है, जैसे तेज धारा में बहता खर-पतवार किनारे लग जाता है, आगे नहीं बढ़ता है। अनादि काल से ऐसा ही होता आया है कि जो जीव-जन्तु समय के अनुकूल अपनी गति नहीं पकड़ पाते, वे मिट जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

हम सब आज इक्कीसवीं शताब्दी में हैं। इस शताब्दी की जो माँग है, वर्तमान जीवन की जो अपेक्षा है, यदि उसके अनुकूल हम स्वयं को क्रियाशील नहीं बनाएँगे, तो समय की धारा से कटकर किनारे लग जाएँगे। एम.ए. की छात्रा नीलम हॉस्टल के अपने कमरे में बैठी मन-ही-मन विचार कर रही थी कि तीन महीने बाद परीक्षा होगी। अब तक का जो जीवन रहा है, छात्र-जीवन, वह अब अपनी सीमा पर पहुँचकर अगले जीवन में, यानी पारिवारिक जीवन में प्रवेश करेगा।

पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की बात आते ही नीलम का विचार ठिठक गया। कमरे में यदि कोई दूसरा होता, तो वह अपने विचार को प्रश्न बनाकर उसका समाधान खोजती, पर वहाँ कोई और था ही नहीं। अचानक नीलम के मन में उठा कि अब तक समाज में परिवार का जो गठन होता आया है, उसमें कुछ गुण तो हैं ही; यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसमें अवगुण नहीं हैं। अवगुण भी हैं। यहाँ, गुण और अवगुण के बीच आकर नीलम का विचार फिर ठिठक गया। यों, उसका विचार

वर्तमान को दृढ़ता से पकड़े हुए था, पर वर्तमान के निर्माण में अतीत का योगदान नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। वह भी तो है ही।

अचानक नीलम का विचार समाज की उस इकाई पर पहुँचा, जहाँ मनुष्य स्वयं समाज की एक इकाई के रूप में उपस्थित होता है। धरती पर अरबों मनुष्य हैं। अभी अन्य देहधारी जीवों की चर्चा नहीं, केवल मनुष्य की चर्चा है। अरबों मनुष्य हजारों-लाखों प्रकार का जीवन जी रहे हैं। अनेक देशों में, अनेक प्रकार की जलवायु में, अनेक प्रकार के समाजों के बीच, सब अपने-अपने ढंग से रह ही रहे हैं। अनायास नीलम का विचार दुनिया से हटकर अपने गाँव-समाज पर आकर अटक गया।

अपना जो समाज है, मिथिलांचल का समाज, वह आज ही नहीं बना है। वह हजारों वर्षों से बनता आया है। इस समाज में कुछ अच्छे गुण भी हैं और कुछ अवगुण भी। यों, गुण-अवगुण के बीच समाज सदैव चलता आया है और आगे भी चलता रहेगा। इसी बीच बुद्धिमानी तो यही होगी कि अवगुण और दुर्गुण को हटाते-बदलते सद्गुण की ओर बढ़ा जाए। जब जीवन में सद्गुण आएँगे, तभी समाज के विचार, व्यवहार और जीवन भी सद्-प्रवृत्ति के बनेंगे। पर सद्गुण कैसे आएँगे, सद्-प्रवृत्ति का व्यवहार कैसे बनेगा, यह प्रश्न तो सामने है ही।

जीवन और समाज के सागर में नीलम जितना उतर रही थी, उसके विचारों में उतना ही अच्छे-बुरे का दिग्दर्शन हो रहा था। उसे कोई ऐसी दिशा, कोई ऐसा रास्ता स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था, जो पूरी तरह सद्गुण का ही हो या पूरी तरह दुर्गुण का ही। एक ही दिशा, एक ही रास्ते में अच्छा भी दिखाई पड़ता था और बुरा भी। जैसे घने वन में किसी पथिक को वन की सघनता के कारण रास्ता दिखाई नहीं देता, वैसे ही नीलम को भी जीवन के इस सघन वन में कोई स्पष्ट, सीधा रास्ता दृष्टि में नहीं आ रहा था, जो जीवन के लिए सबसे सरल और समुचित हो। एक ही रास्ता अच्छा भी लगता था और बुरा भी। अन्ततः नीलम उस सीमा पर, विचार

की उस अंतिम रेखा पर, पहुँच ही नहीं सकी, जो उसके मन में बन रही थी। वह हॉस्टल के कमरे से निकलकर खुले आकाश के नीचे मैदान में टहलने लगी।

पूर्वी हवा मंथर गति से चल रही थी। फागुन का महीना था, इसलिए मौसम सुहावना बना हुआ था।

समाजशास्त्र की छात्रा होने के कारण नीलम के मन में सतयुग से लेकर वर्तमान काल तक की सामाजिक संरचनाएँ और बंधन उपस्थित थे। सतयुग का विचार जब उसके मन में उमड़ने-घुमड़ने लगा, तब स्वयंवर-प्रथा अनायास सामने आ गई। स्वयंवर-प्रथा आते ही नीलम के विचारों के सामने जैसे एक नए रूप का दृश्य उतर आया। उस नए दृश्य के बाद उसके मन में अचानक तूफान जैसी आँधी उठने लगी। आज के समाज की जो संरचना है, उसमें परिवार का गठन क्या इसी रूप में नहीं होता कि जिस जाति का लड़का या पुरुष है, उसी जाति की लड़की या स्त्री के साथ उसका वैवाहिक सम्बन्ध बने? समाज ने इसे सहर्ष स्वीकार कर रखा है।

नीलम के मन में जो प्रश्न अब तक उमड़-घुमड़ रहा था, उसी प्रश्न के बीच उसे एक पतली-सी रोशनी भी दिखाई पड़ी। उसे लगा कि जिस समाज में जातीय बंधन इतने कठोर हैं कि यदि कहीं एक-दूसरी जाति के बीच वैवाहिक सम्बन्ध बनता है, तो समाज उसका विरोध करने लगता है, उसी कारण समाज में बड़ी-से-बड़ी घटनाएँ भी घटती रहती हैं। कितने ही व्यक्ति और कितने ही परिवार ऐसी घटनाओं में पड़कर मिट भी गए हैं और मिट भी रहे हैं। यों, बोलने के क्रम में सब कहते हैं कि मनुष्य की एक ही जाति है। सब मनुष्य हैं, और इनके बीच जो जाति का बाँध, जाति का बंधन बना हुआ है, वह धोखा है, भ्रम है। विचार के क्रम में नीलम के मन में यह भी उठा कि जिस समाज ने गुण के आधार पर स्वयंवर-प्रथा को स्वीकार किया, जिस प्रकार की घटना सतयुग से त्रेता और फिर द्वापर

युग तक चलती आई और जिसे सबने शास्त्र-पुराण का आधार भी माना, वह कलयुग में आकर अवैध कैसे हो गई? जिस प्रथा को राजा से रंक तक स्वीकार कर चुके हैं, वह अमान्य कैसे हो गई?

आज समाज के बीच विचारधारा का जो परिवेश बन गया है, उसमें सब लोग भगवान राम को सर्वोपरि मान रहे हैं। जिनका विवाह, यानी परिवार-गठन, दो जातियों के बीच हुआ था, उसी समाज में ऐसे विचार, अर्थात् अंतर्जातीय विवाह का विरोध क्यों हो रहा है? आज भी गाँव-समाज में हम देखते ही हैं कि जहाँ पुरुष ने विद्वत्ता के बड़े-बड़े गुण हासिल किए हैं, वहाँ पत्नी या तो साधारण पढ़ी-लिखी है या वह भी नहीं। क्या इसे परिवार-गठन की विषमता नहीं कहा जा सकता? किसी दोपहिया गाड़ी में यदि एक पहिया मजबूत और सुंदर हो और दूसरा कमजोर और कुरूप, तो उस गाड़ी की गति कैसी हो सकती है? वह गाड़ी केवल पुरुष की गति, पुरुष की शक्ति के अनुरूप चलेगी या स्त्री की गति और शक्ति से भी संतुलित होगी?

समाज-विज्ञान की छात्रा होने के कारण नीलम एक ओर शास्त्र, यानी अपने विषय को देख रही थी और दूसरी ओर समाज को। दोनों के बीच जो विषमता थी, उसी में नीलम इस तरह उलझ गई कि कोई रास्ता स्पष्ट रूप से उसकी दृष्टि में आ ही नहीं रहा था।

पिछले महीने की एक राष्ट्रीय पत्रिका में शम्भू शरण का लेख छपा था। उस लेख में 1701 ईस्वी से लेकर 2010 ईस्वी तक देश के सामाजिक-आर्थिक परिवेश की विस्तृत चर्चा की गई थी। संयोग से वह पत्रिका नीलम के हाथ में आ गई। यों, पत्रिका में अनेक विद्वानों के कई लेख छपे थे, पर शम्भू शरण का लेख, 'भारतीय समाज और उसका आर्थिक विश्लेषण', सबसे बड़ा और सबसे गंभीर था।

शम्भू शरण अर्थशास्त्र का विद्यार्थी था। उसने अपने शोधपरक लेख में भारतीय समाज और उसके आर्थिक पक्ष का अच्छा विश्लेषण

किया था। यद्यपि वह केवल एम.ए. का विद्यार्थी था, फिर भी उसने कठिन परिश्रम से लेख तैयार किया था। नीलम के हाथ में पत्रिका पड़ते ही उसने उसे आरम्भ से अंत तक पढ़ लिया। पत्रिका पढ़ने के बाद शम्भू शरण के लेख ने नीलम के मन को इतना प्रभावित किया कि उसने उसे लगातार तीन बार पढ़ा। पहली बार पढ़ने पर जितना उस लेख ने उसे प्रभावित किया, दूसरी बार उससे अधिक प्रभावित किया। और दूसरी बार पढ़ने के बाद, विषय गंभीर होने के कारण, नीलम की बौद्धिक भूख और बढ़ गई। तीसरी बार जब उसने लेख पढ़ा, तब भारत का समाज और उसकी आर्थिक दशा स्पष्ट रूप से उसकी आँखों के सामने झलक उठी।

समाजशास्त्र की छात्रा होने के कारण नीलम के मन में उठा कि क्यों न शम्भू शरण से संपर्क किया जाए। समय ऐसा बन ही गया है कि अधिकांश लोगों के हाथ में मोबाइल आ गया है। पत्रिका में छपे लेख के नीचे शम्भू शरण का मोबाइल नम्बर भी अंकित था। नीलम ने शम्भू शरण को फोन करते हुए कहा, "पत्रिका में आपका छपा लेख पढ़कर मेरे मन की उलझी हुई गुत्थी सुलझ गई। इसके लिए आपको कोटि-कोटि धन्यवाद।"

नीलम की प्रशंसापूर्ण बात सुनकर शम्भू शरण बोला, "लेख की तो आप प्रशंसा कर रही हैं, पर आपने अपना परिचय कहाँ दिया?"

नीलम बोली, "मैं समाजशास्त्र की एम.ए. की छात्रा हूँ, और मेरा नाम नीलम है।"

शम्भू शरण ने पूछा, "किस कॉलेज में पढ़ रही हैं और आपका गाँव-घर कहाँ है?"

नीलम ने कहा, "सी.एम. कॉलेज में पढ़ रही हूँ और मेरा गाँव प्रेमपुर है। और आप?"

शम्भू शरण बोला, "एल.एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर में मैं भी

एम.ए. में पढ़ रहा हूँ। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी हूँ और मेरा गाँव नवनगर है।"

'नवनगर' सुनकर नीलम चौंक गई। प्रेमपुर और नवनगर एक ही अनुमंडल में पड़ते हैं। नीलम ने पूछा, "परिवार में कौन-कौन हैं?"

शम्भू शरण ने कहा, "माता-पिता हैं और हम तीन भाई-बहन हैं। भाई और बहन दोनों मुझसे छोटे हैं। अब आप अपने बारे में कहिए।"

नीलम बोली, "जैसे आपके माता-पिता जीवित हैं, वैसे ही मेरे भी हैं। हम पाँच भाई-बहनों में चौथे स्थान पर हैं। मुझसे एक भाई छोटा है, जो हाई स्कूल में पढ़ता है। दो भाई और एक बहन मुझसे बड़े हैं। बड़ी बहन और दोनों भाइयों का विवाह हो चुका है। दोनों भाई मुम्बई में नौकरी करते हैं और बहन ससुराल में रहती है।"

शम्भू शरण बोला, "आपने फोन किया, इसके लिए कोटि-कोटि धन्यवाद। अभी परीक्षा की तैयारी में लगा हूँ, इसलिए अधिक बातचीत अभी नहीं करूँगा।"

छह महीने बीत गए। शम्भू शरण और नीलम, दोनों का एम.ए. का परिणाम प्रकाशित हो गया। जैसे शम्भू शरण ने एम.ए. में टॉप किया, वैसे ही नीलम ने भी टॉप किया। परिणाम निकलने के बाद शम्भू शरण को दो-तीन निजी कॉलेजों से अध्यापन के लिए प्रस्ताव भी मिला, पर वह सरकारी कॉलेज की प्रतीक्षा में अभी तक कहीं ज्वाइन नहीं कर सका था।

अब नीलम का मन मान चुका था कि शम्भू शरण उससे बेहतर विद्यार्थी है। उसके साथ यदि अपना वैवाहिक सम्बन्ध बन जाए, तो जीवन उस धारा की तरह होगा, जो जीवित प्रवाह के साथ बहती हुई समुद्र में जाकर मिलती है। उसी तरह उसका अपना जीवन भी समाज के उस समत्व रूपी समुद्र में जा मिलेगा, जिसमें स्नेह ही स्नेह गतिमान है। नीलम के विचार में शम्भू शरण के साथ वैवाहिक सम्बन्ध की बात तो

आ गई, पर उसी के साथ समाज का जातीय ताना-बाना भी उसके विचारों को घेरने लगा।

यों, नीलम के विचारों में सावन की बरसाती बूँदों के बुलबुलों की तरह अनेक तरह के विचार उठ भी रहे थे और अपने-आप फूट भी रहे थे। इसी असमंजस में पन्द्रह दिन बीत गए।

सोलहवें दिन नीलम का विचार इतना प्रबल हो गया कि उसने फोन उठाकर शम्भू शरण से कहा, "मेरा एक प्रस्ताव है।"

'एक प्रस्ताव है' सुनते ही शम्भू शरण ने पूछा, "क्या प्रस्ताव?"

नीलम ने कहा, "यदि हम दोनों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध बन जाए, तो जीवन का रंग बदल जाएगा।"

नीलम का प्रस्ताव सुनकर शम्भू शरण ने समाज के बंधन को ध्यान में रखते हुए कहा, "हम दोनों के बीच वैचारिक एकरूपता होते हुए भी जातीय दूरी इतनी है कि समाज के लिए यह अभिशाप मानी जाएगी। इसलिए ऐसे प्रस्ताव को कैसे स्वीकार किया जाए?"

नीलम को अपने विचार में जैसे उज्ज्वल भविष्य दिखाई दे रहा था, वैसे ही समाज का इतिहास और स्वयंवर-प्रथा भी उसके मन में नाच रही थी। साथ ही उसका अठारह वर्ष से ऊपर होना भी उसके विचार को बल दे रहा था। इससे भीतर-ही-भीतर नीलम का मनोबल मजबूत होता जा रहा था।

दूसरी ओर शम्भू शरण अपने गाँव के समाज में ऐसी घटनाएँ देख चुका था, जहाँ अंतर्जातीय विवाह के कारण परिवार नष्ट हो गए थे। इसी द्वन्द्व के बीच शम्भू शरण का मन भयभीत था।

तभी नीलम बोली, "मैं आपको क्या सिखाऊँगी, आप तो स्वयं सब कुछ जानते हैं। हो सकता है कि वह विचार आपकी दृष्टि में न आया हो।"

जिज्ञासा से शम्भू शरण ने पूछा, "कौन-सा विचार?"

गंभीर स्वर में नीलम बोली, “जैसे एक समाज को, एक गाँव के समाज को, दूसरे गाँव के समाज से कुछ अलग अधिकार होते हैं, वैसे ही एक गाँव के समाज के भीतर एक परिवार को भी दूसरे परिवार से अलग कुछ अधिकार होते हैं।”

बीच में ही शम्भू शरण बोला, “हाँ, यह तो है, पर ऐसे विचार को समाज के कितने परिवार समझ रहे हैं? देखते ही हैं कि समाज के लोग कहीं अंधी भीड़ की धँसान की तरह एकमुखी हो जाते हैं, तो कहीं किसी महत्वपूर्ण विचार का समाधान करते समय सिर छिपा लेते हैं। यही तो अपना समाज है।”

विचार को आगे बढ़ाते हुए नीलम बोली, “परिवार के भीतर भी व्यक्ति के कुछ स्वतंत्र अधिकार होते हैं। यों, पहले परिवार के सामने अपने स्वतंत्र जीवन का प्रस्ताव रखना अधिक अच्छा होगा, पर यदि परिवार स्वीकार न करे, तो अपने सुनहरे भविष्य के लिए व्यक्तिगत अधिकार का प्रयोग तो किया ही जा सकता है।”

नीलम के विचार को स्वीकार करते हुए शम्भू शरण बोला, “हाँ, वह तो किया जा सकता है। पर अभी नहीं। आगे की बात आगे किसी दिन करेंगे।” ❑

माधव हम परिणाम निराशा

☰

कॉलेज जीवन तक आते-आते शिवनाथ पूर्ण रूप से आश्वस्त हो गए थे कि पढ़-लिख लेने के बाद आसपास ही कहीं नौकरी करेंगे और माता-पिता की सेवा के साथ जहाँ तक सम्भव होगा, समाज और गाँव के लोगों की भी सेवा करेंगे।

अब तक अपने समाज में ऐसा विरोधाभासी विचार जन-जन में फैला हुआ है, जिससे लोग कोई स्पष्ट दिशा देख ही नहीं पा रहे हैं। विरोधाभास यह है कि वैचारिक रूप से हर व्यक्ति के मन में यह धारणा बनी हुई है कि अच्छा-से-अच्छा मनुष्य बनकर जीवन बिताना चाहिए, पर आर्थिक रूप से अब तक अधिकांश लोगों का जीवन अभाव का ही जीवन रहा है। गरीबी के कारण जीवन में हर चीज का अभाव रहा। जीवन के लिए इतनी आर्थिक क्षमता तो चाहिए ही, जिससे भरपेट अन्न, देह ढकने भर वस्त्र और रहने के लिए ऐसा घर मिल सके, जो जाड़े की ठंड, बरसात की वर्षा और गर्मी की उमस से रक्षा कर सके। इसके साथ बीमारी के लिए दवा-दारू और ज्ञान के लिए पढ़ाई-लिखाई की सुविधा भी होनी चाहिए। पर बीमारी होगी ही, इसका कोई वैसा निश्चित आधार नहीं है, जैसा पेट के लिए भोजन, देह ढकने के लिए वस्त्र और जाड़ा-बरसात-गर्मी से बचने के लिए घर की जरूरत का है। पढ़ने-लिखने की बात भी कुछ ऐसी ही है। पढ़ना-लिखना विकसित समाज की आवश्यकता है, क्योंकि जिस समाज में जीवन का मुख्य आधार खेती

करना, माल-मवेशी, गाय-भैंस पालना ही रहता है, उस समाज में पढ़ने-लिखने का उतना महत्व नहीं रखा जाता है। शरीर के श्रम से खेती भी होती है और मवेशी-पालन भी। इसलिए जीवन की मूल आवश्यकता भोजन, वस्त्र और आवास की होती है, और पूरक आवश्यकता स्वास्थ्य और शिक्षा की होती है। यों, ये पाँचों, भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा, जीवन की मूल आवश्यकताएँ ही हैं। इन्हें सब मानते भी हैं और कहते भी हैं कि जीवन की पाँच मूल आवश्यकताएँ हैं।

आज का जो समाज है, या जैसा समाज आज बन रहा है, इसके विपरीत पहले का समाज था। वह राजा-रजवाड़ों का समय था। उस समय अर्थ, यानी संपत्ति, का मुख्य आधार खेत और खेती थी। अभी खेत की लूट-पाट की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। अभी इतना ही कह रहा हूँ कि आज से पहले यहाँ के जीवन और जीविका का मुख्य आधार खेती थी। गाँव-गाँव के खेत सम्मिलित रूप में राजा-रजवाड़ों, जमींदारों और गिने-चुने किसानों के हाथ में थे। ऐसे लोग भी थे, जिनके हाथों में गाँव-गाँव के खेत-खलिहान थे, और बाकी लोगों के हाथों में थोड़ी-बहुत जमीन थी। अधिकांश लोग ऐसे थे, जिनके पास खेती के लिए खेत की कौन कहे, घर बनाने योग्य जगह तक नहीं थी। एक ओर वैचारिक रूप से लोगों के मन में यह बात थी कि दरवाज़े पर यदि कोई आए, तो उसे भोजन कराएँ और जहाँ तक सम्भव हो, उसकी सेवा करें। दूसरी ओर आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि स्वयं और अपना परिवार क्या खाएगा, इसका भी उपाय नहीं था। अभी समय की मार, यानी बाढ़ और सूखे की चर्चा नहीं कर रहा हूँ। अभी इतना ही कह रहा हूँ कि बीते समय में समाज के लोगों के मन और जीवन में कितना विरोधाभास था। एक ओर वैचारिक रूप से उदार विचार थे, और दूसरी ओर गरीबी इतनी कि एक शाम की कौन कहे, कई-कई दिन भूखे रहना पड़ता था।

ऐसे ही समय और ऐसे ही जीवन की उपज पिछली पीढ़ियाँ थीं।

केवल वैचारिक उपदेश से जीवन थोड़े ही चल सकता है। जीवन चलाने के लिए जीवन के साधनों का होना आवश्यक है। इन साधनों का अभाव पाँच-दस वर्ष नहीं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने समाज में रहा। इसलिए जैसे लोग शरीर के रोग-व्याधि से आक्रान्त होकर मरते थे, वैसे ही भूख से भी मरते थे। इसी विरोधाभासी समाज में शिवनाथ का जन्म विक्रमपुर गाँव के एक साधारण किसान परिवार में हुआ था।

बचपन से ही शिवनाथ पढ़ने-लिखने में अच्छे और तेज बुद्धि के थे। उनकी बुद्धि जितनी कुशाग्र थी, वे पढ़ाई को अपना दायित्व समझकर उतने ही मन से पढ़ते भी थे। इसलिए विद्यार्थी जीवन में वे कभी असफल नहीं हुए। हाँ, शिवनाथ को अपनी कक्षा में कोई विशेष स्थान नहीं मिलता था, पर वे अच्छे अंक लाकर सेकंड डिवीजन से मैट्रिक भी उत्तीर्ण हो गए। उनकी अपनी इच्छा भी थी कि बी.ए. तक अवश्य पढ़ेंगे। पिता दामोदर की भी यही इच्छा थी कि गाँव में अब तक केवल दो ही लोग बी.ए. पास हुए हैं, जो हाई स्कूल में शिक्षण कार्य कर रहे हैं। यदि शिवनाथ भी बी.ए. पास कर लेगा, तो वह भी किसी-न-किसी हाई स्कूल में शिक्षक बन ही जाएगा। इससे परिवार की प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और भरण-पोषण भी अच्छी तरह होगा। साथ ही समाज में अपना मान-सम्मान भी बढ़ेगा कि फलाँ ने अपने बेटे को खूब पढ़ाया।

अपनी इच्छा और पिता की इच्छा, दोनों का बल पाकर शिवनाथ ने बी.ए. पास कर लिया। जब तक शिवनाथ पढ़ते रहे, तब तक उनके मन में असीम विश्वास था कि अब तक परिवार का जो किसानी जीवन रहा है, वह आगे अवश्य बढ़ेगा।

बी.ए. पास करने के बाद शिवनाथ नौकरी के प्रयास में दिन-रात लगे रहे, पर नौकरी नहीं मिली।

समाज में ऐसे केवल शिवनाथ ही नहीं हैं। हजारों-हजार और लाखों-लाख पढ़े-लिखे लोग हैं, जो बेरोजगारी के कारण भटक रहे हैं।

एक ओर किसानी जीवन ऐसा है, जिसे बिना पढ़े-लिखे लोग कर रहे हैं। दूसरी ओर यदि पढ़े-लिखे लोग वही काम करना चाहें, तो समाज के लोग उन पर हँसेंगे ही। यह स्वाभाविक भी है। जो काम बिना पढ़े-लिखे लोग कर रहे हैं, वही काम पढ़-लिखकर लोग क्यों करें? समाज और देश की भी ऐसी बदहाली थी कि नौकरी के अवसर नहीं थे। यों, यदि देश का समुचित विकास हुआ होता, तो ऐसा अभाव नहीं रहता, पर वैसा हुआ नहीं। जब तक, यानी 1947 ईस्वी से पहले तक, देश परतंत्र था और विदेशी शासन था, तब तक वे विदेशी शासक देश का विकास क्यों करते? बाद में जब 1947 ईस्वी में देश स्वतंत्र हुआ, तब देश की सत्ता कुछ राज परिवारों और कल-कारखानेवालों, यानी पूँजीपतियों के हाथ में चली गई। वे देशी होते हुए भी देश का समुचित विकास नहीं होने दिया।

बी.ए. पास करने के बाद शिवनाथ लगातार आठ वर्ष तक नौकरी के लिए प्रयास करते रहे, पर नौकरी नहीं मिली। निराशा उन्हें घेरने लगी। पर ऐसे केवल शिवनाथ ही नहीं थे, लाखों पढ़े-लिखे नवयुवक थे। अन्त में शिवनाथ ने गाँव छोड़कर बाहर, किसी दूसरे राज्य के शहर में जाकर नौकरी करने का विचार कर लिया। इसी बीच उनके दो बच्चे भी हो गए और माता-पिता भी गुजर गए। गाँव से निकलकर शिवनाथ बंगलोर चले गए। कुछ दिन पहले तक अपने यहाँ के लोग, मिथिला के लोग, कलकत्ता जाकर नौकरी करते थे, पर समय बदलने पर अब अधिक लोग दिल्ली, मुम्बई और बंगलोर जाकर नौकरी करने लगे हैं।

ट्रान्सपोर्ट में शिवनाथ की नौकरी लग गई। अब तक शिवनाथ का जो जीवन था, वह पूरी तरह अभाव का जीवन था। गरीबी किसे कहते हैं और गरीब का जीवन कैसा होता है, यह शिवनाथ ने अपने जीवन से अच्छी तरह सीख लिया था। अन्न-पानी के लिए भूखे-प्यासे व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है, यह शिवनाथ के अनुभव में भली-भाँति आ चुका था। बंगलोर में ट्रान्सपोर्ट के बड़े-बड़े कारोबारी हैं। एक बड़े कारोबारी के

यहाँ नौकरी मिलने पर शिवनाथ ने वेतन के साथ-साथ जहाँ तक हाथ लगता था, वहाँ तक पैसा बटोरना शुरू किया और छह ही महीने के भीतर उन्होंने अपने जीवन में खुशहाली ले आई।

नौकरी लगने के बाद शिवनाथ हर महीने वेतन का पैसा घर भेजने लगे। छह महीने बाद गाँव आकर अपनी पत्नी और दोनों बच्चों को भी अपने साथ बंगलोर ले गए।

जिस गाँव के समाज में रहकर शिवनाथ जीवन-यापन करने का विचार मन में रखे हुए थे, वह विचार टूट गया।

बंगलोर में शिवनाथ ने अपने दोनों बच्चों का नाम अच्छे विद्यालय में लिखवा दिया। पैसे के पीछे शिवनाथ पागल की तरह दिन को दिन और रात को रात न समझकर अधिक-से-अधिक समय काम में लगाने लगे। एक वर्ष के बाद उन्होंने मकान खरीद लिया।

सावन की वर्षा की तरह पैसा बरस रहा था। अपना मकान हो जाने के बाद शिवनाथ ने अपने चढ़ने के लिए एक चारपहिया गाड़ी खरीदी और उसके तीन ही साल बाद एक ट्रक भी ले लिया। इससे आमदनी में और बढ़ोतरी हो गई।

जैसे-जैसे शिवनाथ की आमदनी बढ़ती गई, वैसे-वैसे पैसे की भूख भी बढ़ती गई। आठ वर्ष बीतते-बीतते उन्होंने दो और ट्रक तथा दो बसें खरीद लीं। यों, उनके मन में यह बात भी आने लगी कि नौकरी छोड़कर अपना कारोबार करें। पर नौकरी की आमदनी देखी हुई थी, इसलिए उन्होंने वैसा नहीं किया।

समय सरकता रहा। अब शिवनाथ के दोनों बच्चे भी जवान हो गए थे और पत्नी भी बंगलोर की हवा-पानी में रहते हुए इतनी सक्षम हो गई थीं कि अपना कारोबार सँभालने लगीं। जैसे सब कुछ अपनी गति से चलता है, वैसे ही शिवनाथ का विचार भी अपनी गति से चलता रहा।

पन्द्रह वर्ष बीतते-बीतते शिवनाथ के विचार में एक मोड़ आया।

अब तक पैसे बटोरने की जो भूख उनके मन में थी, उसमें थोड़ा-बहुत संतोष उतरने लगा। धीरे-धीरे वह संतोष बढ़ता गया। मन-ही-मन विचार कर एक दिन शिवनाथ ने तय कर लिया कि अब बंगलोर में नहीं रहेंगे। जब कारोबार करने लायक अपनी पूँजी हो गई है, तो क्यों न अपने गाँव जाकर अपना कारोबार करें। शिवनाथ ने अपनी पत्नी से कहा, "अब यहाँ, बंगलोर में नहीं रहूँगा। जब पूँजी हो गई है और शरीर भी स्वस्थ है, तब दुनिया के किसी भी कोने में रहकर जीवन-यापन किया जा सकता है।"

जैसे किसी रोग से ग्रस्त रोगी ठीक हो जाने के बाद भी ऐसे खान-पान और ऐसी गतिविधियों से अपने को बचाए रखता है, जिनसे फिर वही रोग न उभर आए और जीवन खतरे में न पड़ जाए। क्योंकि जब तक जीवन है, जब तक हम जी रहे हैं, तभी तक यह अपनी दुनिया है। आँख मूँदते ही दुनिया कहाँ चली जाएगी, इसका कोई ठिकाना नहीं।

शिवनाथ की पत्नी सुमित्रा ने अपने पूर्व जीवन के अनुभव के आधार पर पति से कहा, "अब तक जो जीवन रहा है, उसमें गाँव का जीवन भी देख चुकी हूँ और यहाँ, बंगलोर का जीवन भी देख ही रही हूँ। कहीं भी रहें, सुख से रहें, चैन से रहें, यही तो जीवन हुआ। फिर व्यर्थ ही मन में यह बात क्यों ला रहे हैं कि गाँव जाकर अपना कारोबार करेंगे और अच्छी तरह जीवन-यापन करेंगे?"

यों, शिवनाथ के विचार में प्रौढ़ता आ चुकी थी। इसलिए वे मन-ही-मन अनुभव कर रहे थे कि जब बिना बुद्धि-विवेक के कुत्ता-बिल्ली भी अपनी जिंदगी जी ही लेते हैं, तब मनुष्य तो मनुष्य है। उसमें बुद्धि-विवेक के साथ श्रम करने की असीम शक्ति होती है। मनुष्य होकर यदि कोई मनुष्य की, समाज की सेवा न करे, मनुष्य को मनुष्य समझकर उसकी सहायता करते हुए उसका कल्याण न करे, तब ऐसा मनुष्य ही क्या और ऐसा जीवन ही क्या!' उसी तरह, अपने बाप-दादों के बनाए हुए

परिवार और समाज को छोड़कर यदि केवल अपने पेट के पीछे जीवन बिताया जाए, तो वह जीवन भी क्या! यह बात सत्य है कि जिस समाज और जिस परिवार में अपना जन्म हुआ, लालन-पालन हुआ, वह समाज और परिवार यहाँ, बंगलोर की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है। पर जो पिछड़ा हुआ है, उसे आगे कौन बढ़ाएगा? वह तो उसी समाज के भीतर से आगे बढ़ेगा न।

सोचते-विचारते शिवनाथ को बंगलोर में बीस वर्ष हो गए। गाँव का स्नेह उनके मन में अचानक इतना तीव्र हो उठा कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि परसों गाँव चले जाएँगे।

गाँव की ललक ने शिवनाथ को इस तरह खींच लिया कि अब एक क्षण भी बंगलोर में रहना अच्छा नहीं लग रहा था। वैसे, दोनों बेटे भी जवान हो गए थे और अब अपना कारोबार अच्छी तरह सँभाल रहे थे।

गाँव आने से पहले शिवनाथ के मन में उठा कि अभी अकेले गाँव जाकर पहले रहने के लिए घर बनवाऊँ। जब घर बन जाएगा, तब पत्नी को भी चलने के लिए कहूँगा। यदि वह आएगी तो भी अच्छा, नहीं आएगी तो भी अच्छा। यही सोचकर तीसरे दिन शिवनाथ गाँव के लिए विदा हो गए।

गाँव आते ही बीस वर्ष पुराने साथी शिवनाथ को याद आने लगे। वैसे, उनके दियादी के सात परिवार थे। उन सातों परिवारों की स्थिति, जो बीस वर्ष पहले थी, उसमें सुधार हो ही गया था। शिवनाथ अपने चचेरा भाई रघुनाथ के पास पहुँचे। अपने यहाँ का जो परम्परागत व्यवहार रहा है, उसी के अनुसार रघुनाथ ने शिवनाथ को अपने परिवार का आदमी समझकर रहने की सारी व्यवस्था कर दी।

मोबाइल युग ने इतनी सुविधा तो कर ही दी है कि पैसे का लेन-देन भी अब मोबाइल से किया जा सकता है। शिवनाथ ने रघुनाथ से कहा, “बौआ, गाँव में कौन-कौन घर बनवाने का काम करता है?”

रघुनाथ ने कहा, “भैया, गाँव में तो सात-आठ लोग यह काम करते हैं, पर देवशंकर सबसे ईमानदार हैं और समय पर काम भी करते हैं। डेढ़-दो महीने में आप जैसा घर बनवाना चाहेंगे, वैसा बना देंगे।”

सुबह होते ही शिवनाथ रघुनाथ के साथ देवशंकर के यहाँ पहुँचे और घर बनवाने का काम उन्हें दे दिया।

शिवनाथ की अपनी वास भूमि तो थी ही। दूसरे दिन देवशंकर ने घर का काम शुरू करा दिया।

चार बजे का समय था। शिवनाथ और रघुनाथ दरवाज़े पर बैठकर चाय पी रहे थे। शिवनाथ ने रघुनाथ से पूछा, “सरूप भाई जीवित हैं या नहीं?”

रघुनाथ ने कहा, “हैं तो जीवित ही, पर मरे हुए के बराबर हैं।”

जीते-जी मर जाने जैसी बात सुनकर शिवनाथ चौंक गए। उनके मन में उठा, यह क्या बात हुई, जीते-जी मरे हुए के बराबर? पर मन को संयमित करते हुए शिवनाथ बोले, “बौआ, सरूप भाई मेरे बचपन के साथी हैं। दोनों भाई चलो, उनसे भेंट कर आएँ।”

सूर्यास्त हो चुका था। शिवनाथ और रघुनाथ, दोनों भाई, सरूप के यहाँ पहुँचे। दरवाज़े पर अकेले बैठे सरूप चिन्तामग्न थे। एक तो समय भी झुटपुटे का हो गया था और दूसरे सरूप की आँखों की रोशनी भी कमजोर हो गई थी। दरवाज़े पर पहुँचते ही शिवनाथ बोले, “प्रणाम करता हूँ, सरूप भाई। मैं शिवनाथ हूँ।”

शिवनाथ का नाम सुनकर सरूप ने अपनी याददाश्त पर जोर दिया। कौन शिवनाथ! जैसे वे शिवनाथ को भूल गए हों, वैसे ही बोले, “कौन शिवनाथ?”

शिवनाथ चुप रहे। शिवनाथ का परिचय देते हुए रघुनाथ ने कहा, “शिवनाथ भैया को भूल गए?”

रघुनाथ की बात सुनकर सरूप बोले, "अब बूढ़ा हो गया हूँ न। इसलिए आँखों की रोशनी भी कम हो गई है और याददाश्त भी कमजोर हो गई है। क्या हाल-चाल है, शिवनाथ! गाँव कब आए?"

शिवनाथ ने कहा, "परसों ही आया।"

सरूप ने पूछा, "बाल-बच्चे सब ठीक-ठाक हैं न?"

शिवनाथ बोले, "हाँ, सब ठीक-ठाक है।"

अचानक सरूप रोने लगे। सरूप को रोते देखकर शिवनाथ के मन में उठा कि आखिर सरूप भाई को क्या हो गया है कि वे इस तरह रोने लगे! सांत्वना देते हुए शिवनाथ बोले, "भाई, जीवन में अच्छा-बुरा होता ही है। इसके लिए आप रो क्यों रहे हैं?"

यों, सरूप भाई के मन में यह हो रहा था कि अपने दु:ख की सारी पीड़ा शिवनाथ को सुना दें। पर उसे मन में ही रोककर वे बोले, "शिवनाथ, जीवन को जीवन नहीं समझा, इसलिए मैं भटक गया।"

सरूप भाई की बात शिवनाथ समझ ही नहीं सके कि उनके मन में कैसी चोट लगी है, जिसके कारण वे इस तरह रो रहे हैं। शिवनाथ बोले, "भाई, रो क्यों रहे हैं?"

सरूप भाई बोले, "शुरू से कहता हूँ, शिवनाथ। जब तक अपने जीवन की सारी बात नहीं कह दूँगा, तब तक न मेरे मन की पीड़ा कम होगी और न तुम ही समझ पाओगे।"

सरूप भाई की बात सुनकर शिवनाथ चुप रहे। इससे सरूप भाई को लगा कि शिवनाथ उनकी बात सुनना चाहते हैं। सरूप भाई बोले, "शिवनाथ, तुम्हें याद होगा या नहीं, पर मुझे सब याद है। इसलिए शुरू से कहता हूँ। मैंने सेकंड डिवीजन से मैट्रिक पास किया था, यह तो तुम्हें भी याद होगा?"

सरूप भाई की बात सुनकर शिवनाथ बोले, "हाँ, वह तो याद है।

मैं आपसे दो बैच पीछे था।”

सरूप भाई बोले, “समाज में लेन-देन का चलन शुरू हो गया था।”

सरूप भाई की बात सुनकर शिवनाथ ने अपनी याददाश्त पर जोर दिया, तो याद आया कि दान-दहेज तो उससे पहले भी चल रहा था। त्रेता युग में राम को भी जनकपुर में काफी विदाई मिली थी, जिसकी चर्चा तुलसीदास ने भी की है। पर आज के परिवेश में दान-दहेज का जो चलन बन गया है, वैसा तब नहीं था। शिवनाथ बोले, “हाँ, वह तो शुरू हो ही गया था।”

सरूप भाई बोले, “मैट्रिक पास करने के बाद लोअर प्राइमरी स्कूल में नौकरी लग गई। विवाह के लिए घटक लोग आने लगे। संयोग ऐसा हुआ कि एक घटक ऐसे आए, जिनका बारह बीघा जमीन थी और केवल दो बेटियाँ थीं, बेटा नहीं था। उन्होंने यह सब बात पिताजी से कही। पिताजी पुराने विचार के आदमी थे। उन्होंने कहा कि जब बेटा नहीं है, तब आपके यहाँ हम कुटुम्बाई नहीं करेंगे। पर मैंने सोचा कि बारह बीघा जमीन में छह बीघा हिस्सा होगा। यदि दो हजार रुपये कट्ठा भी जमीन बिकेगी, तब भी बहुत होगा। इसलिए पिताजी पर दबाव दिया और वहीं विवाह किया। मेरे ससुर तीन भाइयों की भैयारी में थे। संयोग ऐसा हुआ कि जब ससुरजी मर गए, तब उस जमीन को बेचकर गाँव में जमीन खरीदने का विचार किया। यही सोचकर ससुराल गया। वहाँ जब मैंने जमीन बेचने की बात चलाई, तब उन दोनों भाइयों के बेटों ने, यानी ससुर के भतीजों ने कहासुनी शुरू कर दी। साफ कह दिया कि यह हमारे खानदान की संपत्ति है, एक धुर भी आपको नहीं देंगे। मैंने कोर्ट में हिस्सेदारी का मुकदमा किया। मुकदमा अब भी वैसे ही पड़ा है। अपनी नौकरी से जो वेतन मिलता था, वह मुकदमे में खर्च होता गया। न अपनी कमाई से घर बना सका और न कुछ कर ही सका। एक दिन तारीख करने कोर्ट गया था। कोर्ट में ही उन लोगों ने मारपीट भी की और धमकी देते

हुए कहा कि अब यदि आओगे, तो खून कर देंगे। मैं सेवानिवृत्त भी हो गया। अब जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो विद्यापति का कहा याद आता है, 'माधव हम परिणाम निराशा'।"

सरूप भाई चुप हो गए। शिवनाथ को कुछ सूझ ही नहीं रहा था। थोड़ी देर बाद उन्होंने उनसे कहा, "भाई, अब चलता हूँ।" ❑

डर

☰

आज ही नहीं, अनादि काल से मनुष्य के मन में डर होता आया है। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं कि सबको एक ही तरह का डर होता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो बचपन से ही निडर होने लगते हैं और जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ती जाती है, वे निडर कहिए या निर्भीक, वैसे ही होते जाते हैं। अनायास मन में उठा कि आखिर डर है क्या, जिसके कारण मन सदा डरा-डरा-सा रहता है?

अकेला दरवाज़े पर बैठा मैं मन-ही-मन विचार करने लगा कि मुझे इतना डर किस बात का होता है कि मन हमेशा डरा-डरा-सा रहता है। ध्यान करने का अभ्यास तो मुझे है नहीं कि ध्यान करते हुए डर के विषय में सोचता। अनायास अपने ही मन ने कहा कि दुनिया जितनी सघन और जटिल है, क्या वह सबकी समझ में आ पाती है? तभी तो ध्यान करनेवाले लोग ध्यान करते हुए बहुत-सी बातें सोच लेते हैं, और जिन्हें ध्यान करने का अभ्यास नहीं है, वे सामने के, आँखों के आगे के दृश्य या विचार को भी न ठीक से सोच पाते हैं, न देख पाते हैं। मेरा मन मान गया कि मैं भी तो वैसा ही हूँ। तुरंत फिर मन में उठा कि जिस विचार या दृश्य को मैं स्वयं नहीं समझ पाता या देख पाता हूँ, उसे किसी दूसरे से पूछकर क्यों न समझ लूँ। मन मान गया कि किसी दूसरे से पूछकर अपने मन के डर का शंका का समाधान क्यों न कर लिया जाए।

जब दूसरे से पूछकर मन के डर का शंका का समाधान करने का

विचार आ गया, तब नज़र उठाकर समाज, यानी गाँव के लोगों की ओर देखा कि ऐसा कौन है, जिससे पूछने पर मेरे मन का डर मिट जाएगा।

गाँव में बहुत लोग हैं, जिनसे पूछा जा सकता है। फिर अपने मन में हुआ कि लोगों में भी ऐसी बीमारी तो है ही कि जो नहीं भी समझते हैं, उनसे यदि पूछा जाए, तो वे कुछ-न-कुछ कह ही देंगे। यदि वे ठीक-ठीक कहेंगे, तब तो डर का शंका का समाधान होगा। और यदि वे स्वयं सही बात नहीं समझते होंगे, तब तो वे भी वैसी ही बात कहेंगे, जो और अधिक भयावह होकर डर को जन्म देगी। मन में विचित्र स्थिति पैदा हो गई, जिससे उलझन और बढ़ गई। अनायास मन में उठा कि अच्छा होगा, किसी एक व्यक्ति पर पूरा विश्वास न करके एक ही प्रश्न एक से अधिक व्यक्तियों से पूछूँ। तब कुछ-न-कुछ सही बात मिल ही जाएगी। मन में यह भी उठा कि न सही बात एक ही प्रकार की होती है, न गलत बात। ऐसी स्थिति में कैसे समझ सकूँगा कि कौन गलत कह रहा है और कौन सही। फिर भी मन में थोड़ा संतोष हुआ।

संतोष होने के बाद जब फिर अपने मन में विचार करने लगा, तब यह बात सामने आई कि जैसे गलत विचार असीम हैं, वैसे ही सही विचार की सीमा भी असीम है। अर्थ यह कि जीवन के स्तर के अनुसार जैसे सही विचार अपना रूप परिमार्जित करते हुए अच्छे-से-अच्छे बनते जाते हैं, वैसे ही गलत विचार भी पीछे की ओर अपरिमार्जित होते हुए गलत दिशा में और अधिक विकराल रूप से बढ़ते जाते हैं। दोनों विचारों के बीच मन इस तरह उलझ गया कि कोई निश्चित निर्णय कर ही नहीं पा रहा था। अन्त में मन में यही विचार उठा कि समाज में लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि जो बात स्वयं न समझ में आए, उसे दूसरे-तीसरे से पूछकर और सुने हुए विचार पर स्वयं भी विचार करके समझना चाहिए। फिर मन में यह विचार आया कि भूतकाल तो बीत ही चुका है, इसलिए उसे न तो पूर्ण रूप से देख सकता हूँ, न समझ सकता हूँ। पर

जो वर्तमान में है, उसे तो समय के अनुसार देखा और समझा जा सकता है। मन मान गया। मन मानने के बाद दरवाज़े से उठकर गाँव की ओर चल पड़ा।

दरवाज़े से उठकर जब आगे बढ़ा और गाँव की सड़क पर आया, तब विचार उठा कि अपने जानने-सुनने में और दूसरों के कहने में भी गाँव में सबसे अधिक जानकार और ईमानदार रघुवंश काका ही हैं। इसलिए अच्छा होगा कि उन्हीं के यहाँ पहुँचकर उन्हीं से पूछ लूँ। अपनी सारी बात उनसे कहूँगा कि मेरे मन में सदा डर समाया रहता है, उसका क्या कारण है।

रघुवंश काका का घर दूसरे टोले में है, जो मेरे घर से करीब एक किलोमीटर की दूरी पर है। रास्ते-रास्ते चलता भी रहा और मन-ही-मन सोचता भी रहा कि रघुवंश काका से क्या पूछूँगा। यों, मन में यह विचार भी आ रहा था कि मैं अपने मन की बात तो रघुवंश काका से पूछूँगा, पर अपनी बात समझाने के लिए यदि वे कुछ पूछेंगे, तो उसका उत्तर भी तो मुझे ही देना होगा। मन-ही-मन सोचता भी रहा और कदम-दर-कदम आगे भी बढ़ता रहा। रास्ता चलना भूल गया और रघुवंश काका के दरवाज़े के पास पहुँच गया। रघुवंश काका का दरवाज़ा देखकर जैसे मन का आवरण खुल गया।

रघुवंश काका दरवाज़े पर ही बैठे थे। अब तक न तो मैंने कुछ कहा था और न ही रघुवंश काका ने कुछ कहा था। आगे बढ़ते हुए जब मैं उनके दरवाज़े के ओसारे के पास पहुँचा, तब बोला, “प्रणाम करता हूँ, काका।”

जैसे ही मैंने कहा, वैसे ही आशीर्वाद देते हुए रघुवंश काका बोले, “अच्छे रहो, बौआ। किधर चले हो?”

मैंने कहा, “काका, आपसे ही एक बात पूछने आया हूँ।”

चौकी पर बैठे-बैठे ही रघुवंश काका बोले, “आओ-आओ, यहीं

बैठो।"

उन्होंने मुँह से कहा भी और हाथ के इशारे से सामने बैठने की जगह भी दिखा दी। जैसे ही उन्होंने हाथ से बैठने की जगह दिखाई, मैं सामने बैठते हुए बोला, "काका, मेरे मन में हमेशा डर समाया रहता है। यदि कभी किसी काम से ब्लॉक ऑफिस जाता हूँ, तो बीडीओ को देखते ही मन काँपने लगता है। उसी तरह शाम पड़ते ही, सूर्यास्त होते ही, जैसे-जैसे अँधेरा फैलता जाता है, वैसे-वैसे मन में डर उतरता जाता है। इस कारण अँधेरे में न कहीं जाता हूँ और न बिना रोशनी के दरवाज़े से बाहर निकलता हूँ।"

रघुवंश काका ने ध्यान से मेरी बात सुनी और मन-ही-मन विचारने लगे। जैसा मैंने उनसे पूछा था, उसका उत्तर उन्होंने तुरंत नहीं दिया। कुछ देर सोचने के बाद बोले, "सिंहेश्वर, जो समस्या तुम्हारे मन में उठी है, उसका समाधान जल्दबाजी में नहीं हो सकता। इसके लिए कुछ समय बैठकर विचार करना पड़ेगा, तभी समाधान होगा।"

जैसे कोई रोगी, शरीर के रोग से ग्रस्त व्यक्ति, मन से समय को हटा देता है कि जाँच-पड़ताल में जितना समय लगे, लगे, पर रोग का इलाज किसी तरह हो जाए, उसी तरह मैंने भी मन में ठान लिया कि चाहे पूरा दिन समझने में क्यों न लग जाए, पर समझकर ही जाऊँगा। मैंने कहा, "काका, एक तो मैं परिवार का कोई ऐसा काम करता नहीं हूँ कि मेरे न रहने से काम अटक जाएगा। दूसरे, जिस काम से अभी आया हूँ, वह समझ लेने के बाद ही जाऊँगा। इसमें जितना समय लगे, लगे। एक दिन में मन नहीं मानेगा, तो दूसरे दिन फिर आऊँगा। यदि दूसरे दिन भी मन नहीं मानेगा, तो तीसरे दिन फिर आऊँगा। पर मन को तो मनाना ही होगा।"

रघुवंश काका बोले, "सिंहेश्वर, यहाँ एक साथ दो प्रश्न हैं। पहला यह कि तुम्हारे मन में अधिक डर होता है, और दूसरा यह कि किसी सरकारी कार्यालय में जाते हो, तब भी डर होता है। तुमने जैसे कहा कि

किसी काम से ब्लॉक जाते हो, तो डर होने लगता है। दोनों प्रश्नों की दो दिशाएँ हैं। पहले ब्लॉक वाली बात समझ लो।"

बीच में मैंने कहा, "कहिए, काका।"

रघुवंश काका बोले, "अब तक अपना जो समाज रहा है, वह शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ा रहा है। इससे सरकारी कार्यालय के तौर-तरीके समझ में नहीं आते, इसलिए अधिक डर होता है।"

रघुवंश काका की गोल-मटोल बात मैं ठीक से नहीं समझ सका, इसलिए बोला, "काका, थोड़ा स्पष्ट करके कहिए।"

रघुवंश काका बोले, "सिंहेश्वर, अधिकांश लोगों के मन को शासन की क्रूरता ने घेर रखा है। फलाँ राजा या फलाँ शासक ऐसे हुए, जो शासितों के साथ, आमजन के साथ, क्रूर व्यवहार करते थे। इसे इस तरह समझो कि जो कुर्सी पर बैठा है, वह आमजन के काम को काम नहीं समझता। जैसे कोई भिखारी कुछ माँगने किसी के यहाँ जाता है, वैसा ही व्यवहार वे लोग आम आदमी के साथ करते हैं। देखोगे कि बिना किसी काम के वे दिन-भर दूसरों के साथ बैठकर गप-सप करते रहेंगे, पर तुम्हारी ओर, तुम्हारे काम की ओर देखेंगे तक नहीं। अभी इतना ही समझो। दूसरा जो प्रश्न है, अब उस ओर आओ।"

रघुवंश काका का विचार सुनकर मन का शंका पूरी तरह तो नहीं मिटी, पर आशा बनी रही। मैंने कहा, "हाँ, वही समझा दीजिए।"

रघुवंश काका बोले, "डर दो कारणों से मनुष्य को होता है। पहला, सामने की घटना देखकर या सुनकर, और दूसरा, काल्पनिक कारण से। सामने से आती हुई कोई तेज गाड़ी-सवारी देखकर मन में डर होता है कि कहीं ठोकर न लग जाए। उसके लिए अपने को सतर्क रखकर बगल से निकल जाना चाहिए। इसी तरह प्राकृतिक प्रकोप का डर भी होता है। उसके लिए जैसा प्रकोप हो, वैसा उपाय भी सोच लेना चाहिए। जब मनुष्य सजग रहना सीख लेता है, तब ऐसे डर मन से अपने-आप मिट जाते हैं। दूसरा डर काल्पनिक होता है। अपने पूर्वजों के मुँह से लोग सदा

भूत-प्रेत, राक्षस-दैत्य आदि के भयंकर रूप की कथा-कहानी सुनते आए हैं। इससे मन इतना सशंकित हो जाता है कि हमेशा डर से काँपता रहता है। ऐसा डर मन से तब तक नहीं मिटेगा, जब तक मनुष्य की अपनी चेतना मजबूत नहीं बनेगी।"

रघुवंश काका का विचार सुनकर मन में थोड़ी राहत हुई। मेरी झुकी हुई दृष्टि उठी और मैंने उनकी ओर देखा। रघुवंश काका यह समझ गए। समझते ही आगे बोले, "काल्पनिक डर कल्पना से भी पैदा होता है और भ्रम से भी। जैसे रस्सी को साँप समझ लेना। यों, अपने समाज में साँप को भी रस्सी मान लेने की बात लोग आज से नहीं, हमेशा से कहते आए हैं। यह पूरा भ्रम है।"

अनायास मेरे मुँह से निकल गया, "हाँ, यह तो लोग कहते ही हैं।"

रघुवंश काका आगे बोले, "शरीर में सात चक्र होते हैं, जिनमें एक मणिपुर चक्र भी है। जिसका मणिपुर चक्र कमजोर होता है, उसे अधिक डर लगता है। दूसरा, प्रतिकूल अवस्था होने पर भी मनुष्य को अधिक डर होता है। उसी तरह काम का डर भी होता है। काम का डर कभी नहीं करना चाहिए। उसे करने का तरीका सीखकर उसका सामना करना चाहिए। डर अपने-आप दूर हो जाएगा।"

रघुवंश काका का विचार सुनकर जैसे ही मन में भरोसा हुआ, वैसे ही लंबी साँस छूटी। आगे रघुवंश काका बोले, "सिंहेश्वर, गलत काम करने से भी मनुष्य को डर होता है, इसलिए गलत काम से परहेज करो। जैसे ही काम करने का सही तरीका सीख लोगे, डर मिट जाएगा। डर का अर्थ अज्ञान है, अंधकार है। इसलिए अपने को जितना सजग बनाओगे, उतने ही निडर होओगे। शान्त चित्त से जीवन-यापन करते चलो, व्यर्थ का डर मन से भागा रहेगा।" ❑

खो गया

☰

शुक्रवार का दिन था। सूर्य लुक-झुक कर रहा था, पर अभी डूबा नहीं था। मैं बिष्टौल हाट जा रहा था। साल में एक दिन बिष्टौल हाट जाता हूँ। मोटे तौर पर यही समझिए कि दुर्गापूजा समाप्त होने के बाद, आश्विन बीतने पर और कार्तिक के पहले सप्ताह में, साल-दर-साल एक दिन हँसुआ-खुरपी खरीदने बिष्टौल हाट जाता हूँ। अपने रघुनाथपुर गाँव के चारों ओर के गाँवों में हाट लगता है। हर हाट की वस्तुओं का अपना-अपना गुण-धर्म होता है।

मेरा घर गाँव के दक्षिणी टोले में है, इसलिए हाट जाते समय गाँव के अधिकांश टोलों को पार करना पड़ता है। अपने गाँव से सटे उत्तर में बिष्टौल गाँव है, जहाँ हाट लगता है। यों, ग्रामीण हाट होने के कारण वह केवल दो-अढ़ाई घंटे का हाट होता है। सूर्य डूबने से एक घंटा पहले हाट शुरू होता है और सूर्यास्त के बाद एक-डेढ़ घंटा और चलता है।

बीस वर्ष पहले बिष्टौल हाट की जैसी शक्ल-सूरत थी, वैसी ही आज भी है। यों, दूसरे हाट-बाज़ारों और गाँव के चौक-चौराहों में बहुत परिवर्तन हुआ है, पर बिष्टौल हाट अब भी वैसा ही है, जैसा पहले था। गाँव का हाट है। चारों ओर के गाँवों के ही व्यापारी आते हैं और खरीदार भी। बिष्टौल के हाट में अब भी वही कुम्हार, मिट्टी के बर्तन बनानेवाले, वही हँसुआ, खुरपी, टेंगारी, चाकू-सरोता बनानेवाले बढ़ई-लोहार, वही साग-सब्जी बेचनेवाले, चाय-पान बेचनेवाले व्यापारी रहते हैं, जो हमेशा

से रहते आए हैं। हाँ, इतना परिवर्तन जरूर हुआ है कि जो व्यापारी बीस वर्ष पहले हुआ करते थे, वे या तो मर गए या बूढ़े हो जाने के कारण अब नहीं आते; अब उनके बेटे आते हैं।

गाँव-घर में जो साग-सब्जी उपजती है, हँसुआ-खुरपी और मिट्टी के जो बर्तन बनाए जाते हैं, वही सब बिकने की चीजें होती हैं और वही सब चीजें लोग खरीदते हैं। इसलिए बाज़ारू वस्तुओं की तरह, यानी बाहरी वस्तुओं की तरह, दाम में उतना चढ़ाव-उतार नहीं होता। बाहरी वस्तुओं में अनेक विसंगतियाँ आ गई हैं और आ भी रही हैं। जैसे वस्तु के मूल्य में मनमानी आ गई है, वैसे ही वस्तु के वजन में भी आ गई है। न तौल-वजन का ठिकाना है, न वस्तु के गुण का। खैर, जो है, उसे लेनेवाला अपने ढंग से सोचे।

हाट कम समय का, केवल दो-अढ़ाई घंटे का, होने के कारण मैं तेज कदमों से हाट जा रहा था। अपने गाँव के उत्तर टोले को पार कर ही रहा था कि सुकदेव पर नज़र पड़ी। सुकदेव का घर रास्ते के बगल में पश्चिम की ओर है। सुकदेव को देखकर मन तिलमिला गया। तिलमिलाने का कारण यह था कि पैंतालीस-पचास वर्ष का सुकदेव बीमारी से इतना दुबला-पतला हो गया था कि पहचान में नहीं आ रहा था। दरवाज़े पर बैठे सुकदेव को देखकर मन में हुआ कि पूछ लूँ, शरीर की ऐसी दशा क्यों हो गई? पर तभी अपने ही मन ने कहा कि यदि कुशल-क्षेम पूछने लगूँगा, तो हाट का काम छूट जाएगा। इसलिए अच्छा होगा कि पहले जिस काम से हाट जा रहा हूँ, वह कर लूँ और लौटते समय सुकदेव का हाल-चाल जानूँ। यही सोचकर जैसे जल्दी-जल्दी हाट जा रहा था, वैसे ही आगे बढ़ गया।

जैसे किसी मौसम का मध्य मास अपने पूरे सोलह श्रृंगार से सज जाता है, वैसे ही हाट का रंग-रूप भी सज गया था। दूसरी वस्तुएँ खरीदनी नहीं थीं, इसलिए सीधे हँसुआ-खुरपी बेचनेवाले के पास पहुँचा। पास

जाते ही धनेसर ने पहचान लिया। पहचानते ही बोला, “बहुत दिन बाद देखा आपको।”

मैंने कहा, “जितना काम रहता है, उतना ही तो आता हूँ। साल में एक दिन आकर हँसुआ-खुरपी खरीद लेता हूँ, जो साल भर चल जाती है। वैसे, हँसुआ-खुरपी का काम कार्तिक से जेठ-आषाढ़ तक अधिक होता है। बाकी समय तो लगभग नहीं के बराबर होता है।”

तीन हँसुए और तीन खुरपियाँ पसंद कर मैंने दाम पूछा। तीनों हँसुए और तीनों खुरपियाँ भी तीन तरह की थीं, इसलिए तीन तरह के दाम भी हुए। भारी काम करने के लिए एक भारी खुरपी, मध्यम काम के लिए एक मझोली खुरपी और बारीक काम के लिए, जैसे लहसुन-प्याज की निराई के लिए, एक छोटी खुरपी ली। उसी तरह बागवानी के लिए, यानी पेड़-पौधों की डालियाँ और पत्ते काटने के लिए एक मोटा मजबूत हँसुआ, मझोले काम के लिए एक मझोला हँसुआ और बारीक काम, जैसे घास-पात काटने के लिए, एक पतला हँसुआ खरीदा। पैसे देकर वहाँ से विदा हुआ।

हाट से निकलते-निकलते सूर्यास्त हो गया, पर अँधेरे का प्रवेश अभी नहीं हुआ था। समय अब भी दिन जैसा ही था। अपना गाँव और बिष्टौल भी एकदम सटे हुए हैं।

बिष्टौल की दक्षिणी सीमा पार करते ही और अपने गाँव की उत्तरी सीमा में प्रवेश करते ही मन अचानक सुकदेव पर पहुँच गया। सुकदेव का विचार आते ही मन में उठा, यही है जीवन। मैं किसी तरह सुकदेव से पन्द्रह-बीस वर्ष बड़ा ही होऊँगा। पर अपना शरीर और स्वास्थ्य अब भी वैसा ही लगता है, जैसा बीस-पच्चीस वर्ष पहले था। सुकदेव के पिता मोतीलाल मेरे साथी, उम्र के साथी हैं। वे मुझसे केवल डेढ़ वर्ष बड़े हैं। फिर सुकदेव ऐसा क्यों हो गया? फिर मन में आया कि जीवन और शरीर का कोई ठिकाना भी है क्या? कहा भी गया है कि शरीर रोग-व्याधि का

घर है।

गाँव सटा हुआ होने के कारण शीघ्र ही सुकदेव के घर के पास पहुँच गया। मन-ही-मन पहले ही विचार कर लिया था कि लौटते समय सुकदेव के यहाँ रुकूँगा और उससे पूछूँगा कि शरीर की ऐसी दशा क्यों हो गई। जब लौटते हुए घर जा रहा हूँ, घर के लोग भी समझ ही रहे होंगे कि हाट गया है, तब यदि थोड़ी देर भी हो जाएगी तो कौन सी बड़ी बात हो जाएगी।

रास्ते-रास्ते आ ही रहा था कि सुकदेव की पत्नी ने सुकदेव से कहा, "हाट है, सब्जी ले आते तो अच्छा था। रात के लिए कुछ भी नहीं है।"

सुकदेव की पत्नी की बात मैंने भी सुनी, पर रुका नहीं। सीधे सुकदेव के दरवाज़े की ओर बढ़ता रहा। मुझे देखकर सुकदेव की पत्नी भी चुप हो गईं और सुकदेव भी कुछ नहीं बोला। मुख्य रास्ते से उतरकर मैंने सुकदेव के दरवाज़े का रास्ता पकड़ा। दरवाज़े के सामने जैसे ही पहुँचा, सुकदेव की पत्नी आँगन की ओर बढ़ गईं और सुकदेव बोला, "प्रणाम, काका।"

सुकदेव को आशीर्वाद देते हुए मैंने कहा, "अच्छे रहो, सुकदेव।"

यों, मन में यह बात उठ चुकी थी कि सुकदेव से पूछूँ कि देह की ऐसी दशा क्यों हो गई। पर अपने मन में यह भी हुआ कि जब कुशल-क्षेम पूछने ही आया हूँ, तब गप-सप के क्रम में ही बात करूँगा। इसलिए आशीर्वाद देकर सुकदेव के दरवाज़े की चौकी पर बैठ गया।

हँसुआ-खुरपी का झोला देखकर सुकदेव बोला, "हाट गए थे, काका?"

मैंने कहा, "हाँ। पिछले साल जो हँसुआ-खुरपी खरीदी थी, वह अब काम की नहीं रही। कार्तिक आ गया है। अब से इन्हीं सबका काम पड़ेगा, इसलिए इन्हीं को लाने हाट गया था।"

सुकदेव सिर हिलाकर चुप रहा। अपनी बात समाप्त करते हुए फिर मैंने ही कहा, “सुकदेव, शरीर पर ध्यान नहीं देते हो?”

मेरी बात सुनकर सुकदेव चुप रहा, पर विषाद से उसके चेहरे का रंग और फीका पड़ गया। थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह धीमे स्वर में बोला, “काका, जिनगी खो गई।”

सुकदेव की बात सुनकर मन में अनेक तरह के विचार उठ-उठकर खड़े हो गए। जिनगी खो गई, इसका क्या अर्थ हुआ? यों, इतना तो जानता हूँ कि किसी मेले-ठेले में या गाँव-शहर जाते समय छोटे बच्चे खो जाते हैं, जो कुछ समय बीतने के बाद मिल भी जाते हैं। ऐसा खो जाना बिरले ही होता है कि जीवन भर न मिले। पर वह भी कभी-कभार ही होता है। कहीं जाने से पहले आदमी परख ही लेता है कि अमुक स्थान देखा हुआ है या नहीं। यदि देखा हुआ रहता है, तो अकेले जाता है, और यदि नहीं देखा रहता, तो किसी दूसरे के साथ जाता है। अन्ततः सुकदेव की बात मेरी समझ में नहीं आई। मैंने पूछा, “क्या खो गया, सुकदेव?”

मेरा प्रश्न सुनकर सुकदेव का हृदय जैसे काँप उठा। उसकी बोली में घरघराहट आ गई। उसी घरघराते स्वर में वह बोला, “काका, अब जो समझ रहा हूँ, वह पहले नहीं समझा। यदि पहले समझ गया होता, तो जिनगी की जो दशा हो गई है, वह नहीं हुई होती।”

सुकदेव ढँके-छिपे शब्दों में बोल रहा था, इसलिए उसकी बात मैं ठीक से नहीं समझ सका। केवल सुनकर रह गया। इससे मन की जिज्ञासा और बढ़ गई। मैंने कहा, “सुकदेव, तुम्हारी बात ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ। थोड़ा स्पष्ट करके बोलो।”

मेरी बात सुनकर सुकदेव की आवाज भर्रा गई। दोनों आँखों में आँसू आ गए। मैं भी उसका चेहरा देख रहा था। चेहरा देखकर मेरे मन में अनेक विचार उठने लगे। पर बिना समझे कुछ कहना उचित नहीं लगा, इसलिए टकटकी बाँधे सुकदेव का चेहरा देखता रहा।

सुकदेव बोला, "काका, जब तक पिता के ऊपर घर का भार था, तब तक मैं यही समझता रहा कि इसी तरह सब दिन चलता रहेगा।"

सुकदेव की बात सुनकर मेरे मन ने कहा कि यही सुकदेव की नादानी थी। तुरंत फिर मन में उठा कि ऐसी नादानी केवल सुकदेव को ही नहीं, अधिकांश लोगों को होती है। वे यह नहीं समझ पाते कि जैसे दुनिया की हर चीज गतिशील है, वैसे ही मनुष्य का जीवन और शरीर भी गतिशील है। सब देखते ही हैं कि बच्चे के जन्म के बाद समय के अनुसार वह बढ़ता है। बच्चा धीरे-धीरे समझदार होता है, फिर सयाना होता है। सयाने से जवान और जवान से बूढ़ा होता है। परिवार में भी यही होता है। जब तक पिता रहते हैं, तब तक परिवार का भार उन्हीं पर रहता है, और जब वे मर जाते हैं या वृद्ध होकर अस्वस्थ हो जाते हैं, तब वही भार बेटे के कंधे पर आ जाता है। यों, इसके अतिरिक्त भी बहुत कारण हैं, जिनसे पिता का भार, यानी परिवार का भार, बेटे पर आ ही जाता है, पर वह बात अभी नहीं।

मैंने कहा, "सुकदेव, तुम तो पढ़े-लिखे हो, फिर यह बात क्यों नहीं समझे?"

अस्वस्थ होने से पहले जैसे आदमी अस्वस्थता के अनेक गलत रास्ते पकड़कर चलता है, पर किसी से कुछ नहीं कहता, और जब बीमार होकर मरने की ओर बढ़ने लगता है, तब सब बात कहने लगता है, वैसे ही सुकदेव भी बोला, "काका, जब तक पिताजी घर का भार सँभाले हुए थे, तब तक मैं दिन-भर या तो गप-सप में बिताता था या ताश के पीछे। ऐसा विचार मन में कभी आया ही नहीं कि समाज में एक कहावत है, 'अढ़ाई हाथ की साड़ी सबको पड़ती है।' यदि यह समझता, तो जीवन का रास्ता दूसरा होता। ऐसा कभी हुआ ही नहीं।"

सुकदेव की बात सुनकर मेरे मन में हुआ कि ऐसा केवल सुकदेव को ही नहीं, बहुतों को होता है। समाज का परिवेश और व्यवहार भी ऐसा

बन गया है कि अधिक-से-अधिक नई पीढ़ी के लोग इसके शिकार बन रहे हैं। पीछे मुड़कर जब बीते समय और पिछली पीढ़ी की ओर देखा, यानी अतीत के सामाजिक जीवन की ओर दृष्टि दौड़ाई, तब मेरे मन ने भी मान लिया कि ऐसा परिवेश केवल आज ही नहीं, हमेशा से रहा है। समाज के बीच दोनों धाराएँ, अच्छी और बुरी दोनों धाराएँ, हमेशा से चलती आई हैं, अभी भी चल रही हैं और भविष्य में भी चलती रहेंगी। सब जानते हैं कि अभी कलयुग है। इससे पहले द्वापर हुआ, उससे पहले त्रेता हुआ और उससे पहले सतयुग था। उसी सतयुग में हरिश्चन्द्र हुए, जो सत्यवादी कहलाते हैं। तो क्या उस युग में, सतयुग में, चोर-कुकर्मी नहीं थे या लुच्चे-लम्पट नहीं थे? यह भी बात नहीं है। वे भी थे। जिस कलयुग को सबसे बुरा युग माना जाता है, उसमें अच्छे लोग, अच्छे विचार या अच्छे काम नहीं हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। वे भी हैं।

मैंने कहा, “सुकदेव, शरीर पर ध्यान दो। शरीर स्वस्थ रहेगा, तभी कुछ कर पाओगे।”

मेरी बात सुनते ही सुकदेव की दोनों आँखों से आँसूओं की धारा निकलने लगी। विचलित होकर बोला, “काका, भविष्य का कोई रास्ता नहीं सूझ रहा है। माता-पिता वृद्ध हैं। यों, वृद्ध होते हुए भी पिताजी स्वस्थ हैं, पर भारी काम करने से परहेज किए हुए हैं। लेकिन माँ तो बिछावन पकड़ चुकी है। अपनी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि माँ की बीमारी का समुचित इलाज करा सकूँ। छोटा भाई अपना परिवार लेकर दिल्ली में ही रहता है। न परिवार में एक पैसा देता है और न दस वर्षों से गाँव आया है। उस पर से जो खेत-खलिहान है, पैतृक संपत्ति, उसमें भी अपना हिस्सा बेचकर दिल्ली ही ले जाना चाहता है। गनीमत है कि पिताजी जीवित हैं, इसलिए वह अभी बचा हुआ है।”

सुकदेव की व्यथा सुनकर मन में विद्यापति की पंक्ति आ गई, ‘हमर दुखक नहि ओर, हे भोलानाथ, हमर दुखक नहि ओर।’ मैंने कहा,

“सुकदेव, अपने परिवार को पार तो तुम्हें ही लगाना पड़ेगा न?”

सुकदेव बोला, “काका, एक ओर वृद्ध माता-पिता हैं और दूसरी ओर तीन बेटियाँ हैं। तीनों तराऊपरी हैं, सब विवाह योग्य हो गई हैं। देख ही रहे हैं कि समाज में लेन-देन और बरातियों के सत्कार-सम्मान का बोझ कितना भारी हो गया है।”

अँधेरा भी धीरे-धीरे घना होता जा रहा था। समय देखकर मैंने कहा, “सुकदेव, मेरी भी रात में देखने की शक्ति कम हो गई है, इसलिए अब जाने दो। अधिक अँधेरा होगा, तो जाने में दिक्कत होगी।” ❑

मुझसे अच्छा हुआ ही

☰

बारह वर्ष बाद महेन्द्र अपनी माँ की मृत्यु के बाद श्राद्ध-कर्म करने गाँव आया है। वैसे, श्राद्ध-कर्म का चलन समाज में अनेक प्रकार का है। जैसे मृत्यु के बाद श्राद्ध-कर्म की अंतिम प्रक्रिया तेरहवें दिन होती है, जिसे हम 'तेरहा कर्म' कहते हैं, उसी प्रकार 'अर्द्धमासी कर्म' भी होता है, जो पन्द्रहवें दिन सम्पन्न होता है। इसी बीच तीसरा विधान भी है, जो अठारहवें दिन सम्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त चौथा कर्म भी होता है, जिसे 'मासी कर्म' कहते हैं। यह तीसवें दिन सम्पन्न होता है।

जैसे दिनों के हिसाब से कर्म में विविधता है, वैसे ही श्राद्ध-कर्म में भी विविधता है। मोटे तौर पर समाज के लोग तीन प्रकार के कर्म मानते और करते हैं: वृषोत्सर्ग, पंचदान और कुरसी। माता-पिता अथवा अन्य लोगों के लिए भी इसी तरह के कर्म होते आए हैं। इन तीनों के बीच भी एकरूपता नहीं है। वृषोत्सर्ग श्राद्ध-कर्म में कोई बछड़े को लोहे की दगनी से आग में तपाकर दागता है और सार्वजनिक रूप से उसे साँढ़ घोषित कर बंधन-मुक्त होता है, तो कोई साँढ़ दागना छोड़कर वृषोत्सर्ग के अन्य कर्म करता है। इसी तरह 'पंचदान कर्म' में भी एकरूपता नहीं है।

जैसे श्राद्ध-कर्म में एकरूपता नहीं है, वैसे ही भोज में भी एकरूपता नहीं है। मृत्यु के बाद जैसे समाज विभिन्न प्रकार के कर्मों को मानता आया है, वैसे ही अन्नदान, यानी भोज को भी मानता आया है। भोज में भी एकरूपता नहीं है। कहने को कहा जाता है कि ग्यारह लोगों

को भोजन करा दीजिए, तो अन्नदान कर्म पूर्ण हो गया। पर व्यवहार इससे भिन्न है। भिन्न इस अर्थ में कि कोई पचीस-पचास गाँवों में फैली अपनी जाति के लोगों को भोज खिलाता है। यहाँ मानव जाति नहीं, जातियों में विभाजित समाज के भीतर अपनी खास जाति की बात है। कोई पाँच-दस गाँवों की जाति को खिलाकर पाक होता है। इसी प्रकार कोई एक गाँव के समाज के बीच अपनी जाति को भोजन कराकर अपने को उद्धार पा चुका समझता है, तो कोई एक समाज के भीतर ग्यारह लोगों को भोजन कराकर पाक होता है। इसी बीच कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो ग्यारह को दूना कर, यानी बाइस लोगों को भोजन कराकर पाक होते हैं।

भोज-भोजन में जैसे एकरूपता नहीं है, वैसे ही भोज्य-विन्यास में और श्राद्ध-कर्म के उन विधानों में भी एकरूपता नहीं है, जो पोखर के घाट पर अथवा आँगन-परिवार के बीच सम्पन्न होते हैं। कोई अधिक-से-अधिक वस्तु-सामग्री और दान-दक्षिणा देता है, तो कोई उससे कम, कोई उससे भी कम और कोई उससे भी कम देकर अपने को मुक्त या उद्धार-प्राप्त समझता है।

गाँव-समाज अनेक जातियों से गठित है। एक गाँव, एक समाज होते हुए भी उसके भीतर अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय हैं ही। इसी प्रकार एक ही गाँव में भिन्न-भिन्न देवी-देवता मान्य हैं और अनेक प्रकार के देवी-देवता-स्थान भी बने हुए हैं। मनुष्य की एक जाति होते हुए भी अनेक सम्प्रदाय, देवी-देवता, नियम-कायदे, विधि और व्यवहार भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ तक कि फूल के पौधे में जो फूल खिलता है, वह भी बँटा हुआ है। किसी देवी-देवता की पूजा किसी फूल से होती है, तो किसी की किसी दूसरे फूल से। यही तो अपना समाज है, जिसमें हम सब रहते हैं।

अब तक जो कहा गया, वह मृत्यु के बाद का कर्म हुआ। इसी बीच एक क्रिया और है। वह है मृत्यु के बाद लाश जलाने की। लाश जलाने

की भी अनेक प्रक्रियाएँ हैं। कहीं, किसी परिवार में, चन्दन की लकड़ी से लाश जलाई जाती है, तो किसी परिवार में आम की लकड़ी से। इसी प्रकार किसी परिवार में चन्दन और आम से भिन्न किसी अन्य लकड़ी से भी लाश जलाई जाती है। कहीं खर के उक्के से मुखाग्नि देकर शव को वैसे ही धारा में बहा दिया जाता है। इतना ही नहीं, किसी परिवार में लाश को बिना जलाए मिट्टी में गाड़ भी दिया जाता है।

जैसे लाश जलाने की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया है, वैसे ही लाश जलाने के लिए जानेवाली बरियाती या कठियारी की प्रक्रिया भी अलग-अलग है। कहीं सैकड़ों लोग जाते हैं, तो कहीं पाँच-दस व्यक्तियों के जाने से ही काम सम्पन्न हो जाता है। अब तक जो कहा गया, वह हिन्दू सम्प्रदाय की प्रक्रिया हुई। पर समाज तो अनेक सम्प्रदायों के समूह से बना है। किसी सम्प्रदाय में मृत्यु के बाद लाश को जला दिया जाता है और शेष जो प्रक्रिया हिन्दू सम्प्रदाय में होती है, वह नहीं की जाती। दूसरी बात यह भी है कि लाश जलाने परिवार से लेकर समाज तक के जो लोग जाते हैं, वे लाश जलाने के बाद स्नान कर अपने को पाक, शुद्ध मान लेते हैं। उन्हें न केश कटवाने की आवश्यकता होती है, न छूत मिटाने के लिए कोई दूसरी क्रिया करने की। इसी तरह एक विधान यह भी है कि लाश जलाने के बाद उन्हें आँगन में, यानी जिस परिवार की लाश थी, उस आँगन में जाकर लोहा-पत्थर छूना अनिवार्य है। उसके बाद ही उन्हें अपने आँगन जाने का अधिकार मिलता है। वहीं ऐसे भी लोग हैं, जो लाश जलाकर लौटने के बाद सीधे अपने आँगन चले जाते हैं। यही है अपने समाज में मृत्यु के बाद की प्रक्रिया।

जिस समाज में मृत्यु के बाद इतनी तरह की प्रक्रियाएँ हों, उस समाज में एकरूपता लाना बच्चों का खेल नहीं है। उस पर समाज के लोग भी भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं। इसलिए एक दिशा में, एक विचार के आधार पर, एक रास्ता पकड़कर चलना कठिन है। दूसरी बात यह भी है

कि समाज में कुछ लोग ऐसे हैं, जो जीवन को, जीवित अवस्था को, अधिक महत्व देते हैं और मृतक को महत्वहीन समझते हैं। इसके विपरीत ऐसे लोग भी हैं, जो जीवन को, जीवित मनुष्य को, कम करके आँकते हैं और मृत्यु को अधिक महत्व देते हैं। समाज में हम देखते ही हैं कि जो सदस्य, बेटा या परिवार का जवाबदेह व्यक्ति, माता-पिता को बीमारी की अवस्था में, जब वे वृद्ध होने या रोग से ग्रस्त होने के कारण असहाय रहते हैं, मुड़कर भी नहीं देखता, किसी तरह की सेवा, जैसे खान-पान, दवा-दारू, सेवा-टहल आदि नहीं करता, वही मृत्यु के बाद गाँव-गाँव के लोगों को न्योता देकर भोज कराता है और अपनी वाहवाही भी लेता है कि उसने बहुत अच्छा क्रिया-कर्म किया। यही है जीवित और मृत के बीच की लीला।

मृत्यु के बाद की प्रक्रिया यह है कि ऊपर जैसे कहा गया, तेरह दिन के भीतर हो, पन्द्रह दिन के भीतर हो या महीने भर में, श्राद्ध-कर्म के बाद साल भर, यानी बारहों महीने, जिस तिथि को मृत्यु हुई थी, उस तिथि को छाया रूप में मृतक के नाम पर भोजन कराया जाता है। इसके अतिरिक्त साल-दर-साल, प्रति वर्ष, बरखी के रूप में भी क्रिया-कर्म के साथ भोज-भात किया ही जाता है। आश्विन मास में हर वर्ष मातृ-नवमी और पितृपक्ष होता है, जिसमें लोग गया जाकर पिण्डदान भी करते हैं।

मोहनपुर गाँव में मुरारी नामक व्यक्ति के दो बेटे थे। बड़ा महेन्द्र और छोटा दिनेश। मुरारी का परिवार मध्यम श्रेणी का किसान परिवार था। वैसे, मोहनपुर गाँव के समाज में मुरारी के परिवार को सम्पन्न परिवार माना जाता था।

आज भी मिथिलांचल के गाँवों में दो से चार प्रतिशत परिवार ऐसे मिलते हैं, जिनके पास दस, बीस, पच्चीस या पचास बीघा जमीन होती है। बाकी पंचानबे-छियानबे प्रतिशत परिवार ऐसे होते हैं, जिनके पास या तो घर बनाने की वास भूमि भी नहीं होती, या दस-पाँच कट्ठे से लेकर

पाँच-दस बीघे तक जमीन होती है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि जैसे देश में, भारत में, दस प्रतिशत परिवारों के पास देश की कुल संपत्ति का पचहत्तर प्रतिशत है और बाकी नब्बे प्रतिशत परिवारों के बीच पच्चीस प्रतिशत संपत्ति है। खैर, वह देश की बात हुई। यहाँ मोहनपुर गाँव के मुरारी परिवार की चर्चा हो रही है।

मुरारी के पास पाँच बीघा खेतिहर जमीन, दस कट्ठा बगीचा और पन्द्रह कट्ठे का एक पोखर था। उनका बड़ा बेटा महेन्द्र बचपन से ही पढ़ने में अच्छा था। जैसे महेन्द्र की पढ़ने की तीव्र इच्छा थी, वैसे ही पिता मुरारी ने भी मन में ठान लिया था कि यदि कुछ खेत भी बेचना पड़े, तो बेच देंगे, पर महेन्द्र जितना पढ़ना चाहेगा, उसे उतना पढ़ाएँगे। महेन्द्र डॉक्टर बना।

अपने यहाँ ऐसा परिवेश बन गया है, और बन भी रहा है, कि पढ़े-लिखे ही नहीं, बिना पढ़े-लिखे लोग भी गाँव में रहना नहीं चाह रहे हैं। डॉ. महेन्द्र भी अमेरिका चले गए।

छोटे बेटे दिनेश ने जब मैट्रिक पास किया, तब मुरारी ने कहा, "बौआ, अपना खेत-खलिहान है। साथ ही जिस गाँव-समाज में हम हैं, उस समाज में परिवार और वंश को भी तो जीवित रखना है। गुजारा भर हिंदी, अंग्रेज़ी और मैथिली की किताबें भी तुमने पढ़ ही ली हैं और लिखना भी जानते हो। इसलिए आगे पढ़ने की क्या आवश्यकता है?"

मैट्रिक पास करने के बाद दिनेश ने पढ़ाई छोड़ दी और खेती को जीविका का आधार बनाकर गाँव में ही रहने लगा।

समय अपनी गति से चलता ही है। अमेरिका जाने के बाद महेन्द्र ने गाँव आना छोड़ दिया। विवशता भी थी। एक तो दूर देश, दूसरे उतनी छुट्टी भी नहीं, और तीसरे, आने-जाने में भी परेशानी।

जैसे महेन्द्र गाँव को भूलते गए, वैसे ही परिवार से समाज तक ने भी महेन्द्र को भूलना शुरू कर दिया। इसी बीच बीस वर्षों के प्रवास के

दौरान महेन्द्र के पिता मुरारी की मृत्यु हो गई। यों, महेन्द्र को पिता की मृत्यु की सूचना दी गई, पर महेन्द्र गाँव नहीं आ सके।

महेन्द्र को भी दो बेटे और दो बेटियाँ हुईं। वैसे, महेन्द्र और उनकी पत्नी को अमेरिका की नागरिकता प्राप्त नहीं हुई थी, पर चारों सन्तानों को नागरिकता मिल गई थी। अमेरिका के नियम के अनुसार जिसका जन्म अमेरिका में होता है, उसे वहाँ की नागरिकता मिल जाती है। इसी नियम के अनुसार महेन्द्र की चारों सन्तानों को अमेरिकी नागरिकता मिल चुकी थी।

आरम्भ में, जब महेन्द्र ने डॉक्टरी पास की थी, उस समय अधिकांश लोगों की तरह उनके विचार में भी यह धारणा थी कि यदि धरती पर कहीं स्वर्ग माना जाए, तो वह अमेरिका है। इसी सोच के कारण महेन्द्र हँसी-खुशी अमेरिका गए।

यों, भारतीय चिन्तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर और यूरोपीय चिन्तक बर्नार्ड शॉ, रोमाँ रोलाँ, आइंस्टीन आदि सोवियत संघ को धरती का स्वर्ग मानते रहें।

अमेरिका में रहते-रहते महेन्द्र की सोच में बदलाव आने लगा। इस बदलाव का कारण था अपने पूर्वजों का जीवन, अपने समाज का संघर्ष और मातृभूमि की मिट्टी-पानी से उनका जुड़ाव।

वैसे, महेन्द्र ने अमेरिका में अपना फ्लैट खरीद लिया था, पर जीवन के साथ-साथ विचारों में भी परिवर्तन आता ही है। वही परिवर्तन महेन्द्र में भी आने लगा।

माँ की मृत्यु का समाचार सुनकर महेन्द्र ने गाँव आने का विचार कर लिया। मृत्यु के चार दिन बाद महेन्द्र अपने बाल-बच्चों के साथ मोहनपुर गाँव आए। जैसे स्वयं महेन्द्र और उनकी पत्नी के रूप-स्वभाव में परिवर्तन आ चुका था, वैसे ही चारों बेटे-बेटियों का रंग-रूप भी ऐसा था कि वे मोहनपुर के दूसरे परिवारों के लोगों और अपने भाई दिनेश के

बाल-बच्चों से देखने में अलग ही लगते थे।

गाँव आते ही महेन्द्र के मन में पुराने संस्कार जोर पकड़ने लगे। उन्हें याद आने लगा कि अपने समाज में, अर्थात् मिथिलांचल में, ऐसी परम्परा रही है कि बाल-बच्चों का विवाह-दान हो, माता-पिता का श्राद्ध-कर्म हो या कोई सार्वजनिक काम-उत्सव, उसके लिए समाज की बैठक की जाती है। समाज की बैठक कर उसकी रूपरेखा भी बनती आई है और क्रियान्वयन भी होता आया है। यही विचार महेन्द्र के मन में जोर मारने लगा। माँ का श्राद्ध-कर्म किस प्रकार किया जाए, इसके लिए महेन्द्र ने समाज की बैठक बुलाई।

यहाँ एक बात और है। सार्वजनिक काम, जैसे विद्यालय हो, अस्पताल हो या कोई अन्य सार्वजनिक कार्य, उसमें गाँव की सभी जातियों के लोगों की बैठक होती है और निर्णय लिया जाता है। पर श्राद्ध-कर्म हो या विवाह-दान, उसमें खास जाति के समाज के बीच विचार किया जाता है। महेन्द्र ने अपने स्वजातीय समाज की बैठक बुलाई। सार्वजनिक बैठक को समाज के लोग सर्वोपरि समझकर महत्व देते ही हैं।

बैठक में महेन्द्र ने अपनी माँ के श्राद्ध-कर्म का प्रश्न रखा। समाज में हर तरह के लोग रहते ही हैं। एक-दो लोगों ने बोलना, अपना विचार देना शुरू किया।

माँ तो दोनों भाइयों की थीं, महेन्द्र की भी और दिनेश की भी। इसलिए खर्च आधा-आधा दोनों भाइयों को करना चाहिए। कुछ लोगों ने यह विचार दिया कि महेन्द्र अधिक कमाते हैं, इसलिए दो-तिहाई खर्च महेन्द्र दें और एक-तिहाई दिनेश।

सोहन काका, जो समाज में निष्पक्ष भी माने जाते हैं और उम्रदराज भी हैं, उन्होंने महेन्द्र से पूछा, “महेन्द्र, तीन साल से माँ बीमार थीं। उस बीच उनकी सेवा तुमने की या दिनेश ने?”

सोहन काका की बात सुनकर महेन्द्र निरुत्तर होते हुए बोले, “वह तो दिनेश ने ही की।”

सोहन काका बोले, “दोनों भाइयों में माता-पिता की सेवा के लिए कौन अच्छा निकला?”

जैसे रंगे हाथ पकड़े गए चोर की दशा होती है, वैसे ही महेन्द्र बोले, “मुझसे अधिक सेवा दिनेश ने की। इसलिए वह मुझसे अच्छा हुआ ही।”

अन्तिम निर्णय करते हुए सोहन काका बोले, “श्राद्ध-कर्म का पूरा खर्च तुम्हें करना पड़ेगा।” ❑

मन उड़ गया

☰

पचास वर्ष की उम्र पार कर जाने के बाद राधामोहन के भीतर वह चेतना जागी, जो जीवन में कहीं खो गई थी। चेतना जागते ही जब राधामोहन अपने बीते जीवन की ओर मुड़कर देखने लगे, तब उनके अपने मन ने कहा कि अपनी तो जिनगी ही खो गई!

कोई वस्तु खो जाने पर थोड़ा या अधिक दु:ख तो होता ही है, पर कुछ समय बीत जाने के बाद लोग या तो उसे भूल जाते हैं या भूलने की कोशिश करते हैं। वे सोचते हैं कि खोई हुई वस्तु के लिए व्यर्थ ही अपना अमूल्य समय और अमूल्य जीवन बोझिल बना रहे हैं। जो वस्तु चली गई, वह तो चली ही गई; और जिसे प्रयत्न करके फिर प्राप्त किया जा सकता है, उसे पाने की शक्ति भी हम इसी शोक में नष्ट कर रहे हैं। इसलिए अच्छा यही है कि उसे भूल जाना ही ठीक है। क्या केवल मेरे साथ ही ऐसा हुआ है? बहुतों के साथ होता है और भविष्य में भी होता रहेगा।

किसी वस्तु का खो जाना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि वस्तु मनुष्य-निर्मित है; फिर उसका निर्माण किया जा सकता है। ऐसा संतोष होने के बाद मनुष्य उस वस्तु को भूलकर फिर अपने अगले जीवन में क्रियाशील हो ही जाता है। पर जीवन तो जीवन है। जीवन वस्तु नहीं, वस्तु का निर्माता है। यदि जीवन ही खो गया, तब बचा क्या कि फिर उसकी भरपाई कर ली जाए?

राधामोहन जितना पीछे मुड़-मुड़कर देखते, उतना ही उनका मन

चिन्ता से बोझिल होता जाता। पचास वर्ष का जीवन खो जाना कोई साधारण बात थोड़े ही है! जीवन का कोई ठिकाना है कि कितने दिन जिएँगे? हाँ, यह बात जरूर है कि यदि सौ वर्ष जिएँगे, तब आधा जीवन खोना हुआ। यदि डेढ़ सौ वर्ष जिएँगे, तब एक-तिहाई। और यदि दो सौ वर्ष जिएँगे, तब एक-चौथाई जीवन खोना हुआ। पर वैसा तो है नहीं। अपने पूर्वज ऋषि-मुनियों ने कहा है कि मनुष्य का जीवन सौ वर्ष का है। उस हिसाब से आधा हुआ। पर उसका भी कोई विश्वसनीय आधार है कि सौ वर्ष जिएँगे ही? इतिहास के पन्नों में ऐसे-ऐसे जीवन लिखे हुए हैं, जो सौ वर्ष और उससे कुछ ऊपर भी जिए हैं। उसी आधार पर पूर्वजों ने मनुष्य का जीवन सौ वर्ष माना। पर क्या यह झूठ है कि बच्चा जब पेट में रहता है, तब भी मरता है और मृत बच्चे का जन्म भी होता है? उसी तरह एक वर्ष, दो वर्ष, चार वर्ष से लेकर दस, बीस, पच्चीस और पचास वर्ष की अवस्था में भी मृत्यु होती ही है। उस पर भी ऐसा युग-जमाना आ गया है कि लोग दिन-रात गाड़ी-सवारी से चलने लगे हैं और दुर्घटना होने पर मर भी रहे हैं। ऐसे अनिश्चित जीवन में यदि पचास वर्ष डूब गए, तब बचा क्या कि उसी आशा पर जीवन को जीवन समझा जाए?

राधामोहन जितना अपने जीवन की ओर देखते, उतना ही निराशा का अँधेरा उनके मन को ढँकता जाता। जैसे घने अँधेरे में ज्ञान का प्रकाश फूटता है और उससे चेतना भी जागती है, वैसे ही राधामोहन के मन में चेतना आने लगी। मन में चेतना आते ही बीते दिनों का बोझ धीरे-धीरे हटने लगा और एक प्रकाश-पुंज दिखाई पड़ने लगा।

अनायास राधामोहन के मन में हुआ कि प्रह्लाद के भीतर गर्भ में ही वह चेतन-शक्ति कैसे आ गई थी, जिससे उनका जीवन जगमगा उठा। भले ही ध्रुव को धरती पर आने के बाद बचपन में, अम्बरीष को जवानी में, धृतराष्ट्र को बुढ़ापे में और अजामिल को मृत्यु-काल में वह चेतना मिली और उनका जीवन जगमगा उठा; पर मेरा तो केवल पचास वर्ष का

जीवन ही डूबकर नष्ट हुआ है, शेष तो बचा हुआ है। उसमें भी बहुत कुछ किया जा सकता है। बूढ़े-पुरखों का कहना है कि 'जब जागो तभी सबेरा'। इसलिए उस प्रकाश में स्वयं को ले जाकर जीवन को प्रकाशित क्यों न करूँ। राधामोहन के विचार में नई चेतना का आगमन हुआ।

अब तक जो चिन्ता राधामोहन के मन में थी, वह धीरे-धीरे छँट गई। उसके छँटते ही मन में नया उत्साह जागा, जिससे मन प्रफुल्लित हो उठा। उसी समय राधामोहन का एक पुराना साथी, मानेसर, पहुँचा।

राधामोहन और मानेसर दोनों ने हाई स्कूल की आठवीं कक्षा में साथ-साथ नाम लिखवाया था। जब दोनों नौवीं में आए, तब मानेसर तो विद्यालय में ही रहे, पर राधामोहन ने पढ़ाई छोड़ दी। जान-बूझकर राधामोहन ने विद्यालय नहीं छोड़ा था, पढ़ाई उनसे छूट गई थी। छूटने का कारण यह था कि बचपन से ही उनका झुकाव कीर्तन-भजन की ओर बढ़ गया था। गाँव-गाँव में कीर्तन-भजन की मंडलियाँ थीं ही। केवल गाँव-गाँव क्यों, एक ही गाँव में भी जाति-जाति के बीच अनेक मंडलियाँ थीं। वे लोग या तो दरवाज़े पर या देवस्थान में प्रतिदिन संध्या-पहर से लेकर रात में खाना-पीना होने तक भजन-कीर्तन करते थे। उसी सत्संग में राधामोहन भी पड़ गए।

उस समय समाज के बीच वातावरण भी ऐसा ही बना हुआ था कि गाँव-गाँव में रामलीला, कृष्णलीला और रासलीला के साथ नाटक-नौटंकी, उत्तमचन्द तथा किसान-मजदूर नाच पार्टी की मंडलियाँ भी थीं। वैसे, कोई भी मंडली हो, चाहे रामलीला की हो, कृष्णलीला की, रासलीला की, नौटंकी की, नाटक की, उत्तमचन्द की या मजदूर-किसान के नाच की, वह सामाजिक रूप से, एक जाति की सीमा से आगे बढ़कर सामूहिक रूप में भी चलती थी। बाद में जब सिनेमा का आगमन हुआ, तब इन सबमें कमी आने लगी।

कई सम्प्रदाय, जैसे कबीर पंथ, नानक पंथ आदि निर्गुण सम्प्रदाय

और साथ में रमौत, कृष्णमार्गी आदि सगुण सम्प्रदाय भी चलते ही रहे। एक जाति के एक परिवार में भी अनेक प्रकार के साम्प्रदायिक प्रभाव थे। पाँच लोगों के परिवार में एक व्यक्ति कबीर मत माननेवाला था, तो दूसरा राम-भक्त बनकर रमौत था।

सभी सम्प्रदायों में कुछ-कुछ भिन्नता और कुछ-कुछ एकरूपता भी रहती थी। नाच-तमाशे के अतिरिक्त देवस्थानों और परिवारों में अष्टयाम, नवाह, कीर्तन तथा उसके साथ अनेक प्रकार के यज्ञ-जाप, जैसे चण्डी यज्ञ, सहस्रचण्डी यज्ञ आदि भी चलते थे और अब भी कहीं-कहीं चलते हैं। कीर्तन भी अनेक रूपों में चलता था और अब भी कहीं-कहीं चलता है।

कीर्तन-भजन के अतिरिक्त भोज-भंडारा भी होता था और अब भी होता है। भंडारा वैष्णव सम्प्रदाय का सामूहिक भोजन हुआ और भोज श्राद्ध, विवाह, मुंडन आदि अवसरों पर होनेवाला सामूहिक भोजन।

नौवीं में जब राधामोहन पढ़ रहे थे, उसी समय वे कीर्तन-भजन से प्रभावित हो गए, जिससे उनकी पढ़ाई छूट गई। कीर्तन-भजन की ओर झुकने से राधामोहन का मन साज-बाज की ओर भी बढ़ गया। परिवार बहुत सम्पन्न तो नहीं था, पर मध्यम कोटि का जरूर था। उस पर चार बहनों के बीच अकेले भाई होने के कारण माता-पिता उन्हें अधिक दुलार-प्यार करते ही थे। हारमोनियम, ढोलक और झाल की ओर झुकाव होने पर राधामोहन ने घर में पिता के रखे सैकड़ों रुपये चुराए और एक साथी के साथ समस्तीपुर जाकर एक पल्ले की ढोलक, हारमोनियम और दो जोड़ी झाल खरीद लाए।

पिता गोविन्द को पैसे का काम पड़ा, तो वे घर में रखे रुपये निकालने गए। रुपये न देखकर वे अवाक रह गए। उन्होंने राधामोहन से पूछा, “बौआ, रुपये तुमने लिए हैं?”

ढोलक, हारमोनियम और झाल राधामोहन समस्तीपुर से खरीदकर ला ही चुके थे। बोले, “हाँ। कीर्तन करने के लिए ढोलक, झाल और हारमोनियम खरीद लाया हूँ।”

समाज में एक पुरानी कहावत है, ‘घी खोया कहाँ? राहड़ की दाल में।’ कीर्तन-भजन की वस्तु, साज-बाज देखकर गोविन्द कुछ नहीं बोले।

मैट्रिक पास करने के बाद मानेसर ने कॉलेज में नाम लिखवाया। पढ़ाई में मानेसर बहुत अच्छे तो नहीं थे, पर बहुत कमजोर भी नहीं थे। जैसे मैट्रिक में उन्हें सेकंड डिवीजन मिला था, वैसे ही बी.ए. में भी सेकंड डिवीजन मिला। बी.ए. करने के बाद वे हाई स्कूल में शिक्षक बन गए।

राधामोहन के यहाँ आते ही मानेसर ने पूछा, “राधा भाई, क्या हाल-चाल है?”

अब तक राधामोहन का जो जीवन रहा था, उससे वे निराश हो ही चुके थे। कीर्तन-मंडली के बाद नौटंकी पार्टी में भी उनका बहुत समय खप गया था। करीब दस वर्ष तक उन्होंने नौटंकी पार्टी में काम किया। बाद में वह पार्टी टूट गई। केवल वही पार्टी नहीं टूटी, अनेक पार्टियाँ टूट गईं।

नौटंकी पार्टी टूटने के बाद राधामोहन नाटक पार्टी में काम करने लगे। कुछ दिन बाद उस नाटक पार्टी के मैनेजर की मृत्यु हो गई। तब वह पार्टी भी टूट गई और जितने कलाकार तथा साज-वादक थे, सब इधर-उधर बिखर गए। इसी बीच राधामोहन की उम्र पचास वर्ष से ऊपर निकल गई। इसी बीच माता-पिता भी गुजर गए। वैसे, पिता की दी हुई कहिए या परिवार की, चार बीघा जमीन राधामोहन के पास थी ही। पर जमीन रहते हुए भी पिता के समय में राधामोहन न कभी खेत की मेड़ पर गए थे और न उन्हें खेती करने का कोई कौशल था।

अब तक समाज के लोग राधामोहन को एक अच्छे कलाकार के

रूप में पहचानते-जानते थे, पर वह स्थिति अब बदलने लगी। नाटक पार्टी टूटने के बाद राधामोहन एक कलाकार की जगह केवल साधारण व्यक्ति बनकर रह गए। अपना डूबा हुआ जीवन देखकर राधामोहन ने मानेसर से कहा, "मानेसर भाई, मेरा जीवन डूब गया!"

यों, मानेसर भी राधामोहन के विषय में जानते थे, पर किसी के विषय में जानना और उसके मुँह से सुनना, दोनों अलग बातें होती हैं। अब भी बहुत लोगों के मन में यह धारणा बनी हुई है कि पहले के लोग झूठ नहीं बोलते थे और आज के लोग झूठ बोलते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। पिछली पीढ़ी का जो मानवीय और सामाजिक जीवन था, वह आज की तरह बहुआयामी नहीं था। उस समय अविकसित समाज और अविकसित जीवन होने के कारण अधिकांश लोगों की जिन्दगी सिमटी हुई थी। इसलिए उन्हें झूठ बोलने की आवश्यकता उतनी नहीं लगती थी, जितनी आज के परिवेश में लग रही है।

मानेसर बोले, "कौन-सा जीवन डूब गया?"

राधामोहन अपने डूबे हुए जीवन की ग्लानि से मुँह खोलकर कुछ बोलना नहीं चाहते थे। पर जब कोई बीमारी, कोई शारीरिक असाध्य बीमारी, अपना उग्र रूप धारण कर लेती है, तब जैसे रोगी अपनी गुप्त-से-गुप्त बीमारी, जिसे वह मन-ही-मन दबाए रखता है, सार्वजनिक रूप से कहने लगता है, वैसे ही राधामोहन बोले, "मानेसर भाई! जिस दिन पढ़ाई छोड़ी थी, उस दिन मन में आशा और विश्वास था कि अच्छा गायक बनूँगा, अच्छा कलाकार बनूँगा। पर आज देख रहा हूँ कि मन की जितनी उड़ान थी, वह सब धुएँ की तरह उड़कर कहाँ चली गई, इसका कोई ठिकाना नहीं!"

मानेसर ने पूछा, "अब क्या सोच रहे हो?"

विचलित होकर राधामोहन बोले, "तीन बेटियों का विवाह करना

अनिवार्य है। समय और समाज देख ही रहे हैं कि बेटी का विवाह कैसी राक्षसी वृत्ति की तरह भयावह बन गया है। सामने दहेज खड़ा है। तब तो दोनों बेटों का गला काटने जैसा होगा, खेत बेचकर तीनों का विवाह करना पड़ेगा। मेरे सोचने से क्या होगा!”

मानेसर ने पूछा, “सचमुच यही?”

राधामोहन बोले, “और दूसरा उपाय कौन-सा है?” ❑

आशीर्वादी रुपया

☰

फागुन महीने का अंतिम सप्ताह था। शिवरात्रि हुए सात दिन हो गए थे, पर फगुआ होने में अभी आठ दिन बाकी थे। मौसम में बदलाव आ रहा था। न वैशाख-जेठ जैसी गर्मी पड़ रही थी और न पूस-माघ जैसी ठंड। हाँ, इतना जरूर हो गया था कि साँझ के समय तीखी गर्मी नहीं, बल्कि मधुर गरमाहट और भोर के समय पूस-माघ जैसी हाड़ कंपा देनेवाली ठंड नहीं, बल्कि मध्यम कोटि की ठंड होने लगी थी। इससे मौसम में मधुमास का आगमन हो ही गया था।

दूसरे वर्षों की अपेक्षा इस बार ठंड भी कम पड़ी थी और दूसरे वर्षों की तरह इस समय, यानी फागुन के अंत में, गर्मी का आगमन भी नहीं हुआ था। जिस वर्ष शीतलहर अधिक दिनों तक रहती थी, उस वर्ष इस समय ठंड भी अधिक रहती थी, और जिस वर्ष सूखा, उसम भरा समय होता था, उस वर्ष गर्मी भी अधिक पड़ती थी। वैसा इस बार नहीं हुआ। दूसरे वर्षों की अपेक्षा समय का रुख समगम था।

यों, फिर भी भोर की ठंड और शाम की तीखी ठंड या गर्मी भले न हो, पर इतना तो होता ही है कि भोर में ऊनी चादर ओढ़नी पड़ती है और शाम में बिना चादर के ही काम चल जाता है। खाने-पीने की रात तक कई लोगों ने चादर ओढ़ना भी छोड़ दिया है। खैर, जो है, वह तो समय और मौसम का गुण-अवगुण हुआ।

भोर में पाँच बजे कृष्ण कुमार बिछावन से उठे। सिरहाने के पास

रखा ऊनी गुलबन्द कान में बाँधा, ऊनी चादर ओढ़ी और कमरे का दरवाज़ा खोलकर बाहर निकलने ही लगे थे कि रास्ते से आवाज सुनाई दी, "मिरचाई-धनिया, हल्दी-लहसुन ले जाएँगे जी...!"

सड़क की आवाज सुनकर कृष्ण कुमार ने कमरे की दीवार पर टँगी घड़ी की ओर नज़र डाली। पाँच बज रहे थे। परिवार में अभी तक कोई उठा भी नहीं था। अपनी नींद टूट गई थी, इसलिए उठे थे। इसी बीच पत्नी रुक्मिणी भी उठ गईं और कृष्ण कुमार से बोलीं, "मिरचाई वाले को आवाज दीजिए।"

पत्नी की बात सुनकर कृष्ण कुमार बिना कुछ कहे कमरे से निकले और रास्ते की ओर बढ़ते हुए बोले, "अरे मिरचाई वाले, रुकना।"

जैसे ही कृष्ण कुमार ने आवाज दी, मिरचाई वाला रास्ते पर रुक गया। साइकिल से उतरकर उसने साइकिल दरवाज़े की ओर बढ़ाई। इसी बीच कृष्ण कुमार और रुक्मिणी भी घर से निकलकर दरवाज़े पर पहुँच गए। कृष्ण कुमार को देखते ही बड़बड़िया बोला, "क्या लेंगे, बौआ?"

कृष्ण कुमार चुप रहे। रुक्मिणी बोलीं, "मिरचाई लेंगे।"

"कितना लेंगे?"

"पाव भर।"

जैसे कुशल कारीगर या पढ़ने-लिखनेवाला अपना उपयोग की सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी जगह पर व्यवस्थित रखता है, वैसे ही बड़बड़िया ने भी बिक्री के सामान से लेकर तौलने के सामान तक सब कुछ व्यवस्थित रखा था। जैसे ही रुक्मिणी ने कहा, बड़बड़िया ने मिरचाई तौलकर दे दी।

कृष्ण कुमार ने पूछा, "कितने दाम हुए?"

"पच्चीस रुपये।"

भोर का समय था, इसलिए कृष्ण कुमार आगे कुछ नहीं बोले।

उनके मन में यह बात उठ गई थी कि पहला खरीदार मैं ही हूँ। यदि दाम में रौं-झौं करूँगा, तो बेचारे को पूरे दिन ग्राहकों के साथ रौं-झौं होती रहेगी। यों, ऐसे विचार का कोई ठोस आधार तो नहीं है, पर लोगों के मन में ऐसी धारणा बनी हुई है। उसी धारणा के अनुकूल कृष्ण कुमार ने व्यवहार किया। इसी बीच रुक्मिणी आँगन में मिरचाई रखकर फिर दरवाज़े पर लौटीं और बोलीं, “धनिया और हल्दी भी लगभग समाप्त ही हैं, इसलिए धनिया और हल्दी भी ले लीजिए।”

जैसे रुक्मिणी ने पति से कहा, वैसे ही कृष्ण कुमार ने बड़बड़िया से कहा, “धनिया और हल्दी भी दे दो।”

दूसरे व्यापारियों की तरह बड़बड़िया को झुँझलाहट नहीं हुई कि एक ही बार सब सामान कह देते, बार-बार क्यों कह रहे हैं। बड़बड़िया के मन में तो खुशी उमड़ पड़ी कि अधिक-से-अधिक सामान की बोहनी हो रही है।

बड़बड़िया की उम्र पचास वर्ष से ऊपर हो गई थी। एक तो फागुन का समय था और दूसरे, वह बगल के गाँव से साइकिल चलाकर आया था। इसलिए कृष्ण कुमार के मन में हुआ कि वह बुढ़ापे के करीब पहुँच गया है। उन्होंने उसे बुढ़ापे के करीब इसलिए समझा कि उसके सिर के बाल और मूँछ-दाढ़ी आधे से अधिक पककर काले से सफेद हो गए थे। वैसे, कृष्ण कुमार के मन में बड़बड़िया से गप-सप करने का विचार भी जग चुका था। यह विचार इसलिए उठा था कि जाड़े का महीना हो या गर्मी का, वे रोज देखते थे कि बड़बड़िया सुबह पाँच बजे से अपना कारोबार शुरू कर देता है। आखिर क्या कारण है कि इस उम्र में भी बड़बड़िया इतना क्रियाशील है? अपने परिवार में भी देखते हैं कि सब सोए हुए हैं और दूसरे परिवारों में भी यही हाल है।

कृष्ण कुमार ने बड़बड़िया से कहा, “जाड़े का महीना है, तुम भी दूसरे गाँव से साइकिल चलाकर आए हो। ठंड भी लग गई होगी, इसलिए

चाय पी लो।”

कृष्ण कुमार ने जैसे ही चाय का आग्रह किया, बड़बड़िया ने उत्तर देते हुए कहा, “बौआ, कोई भी महीना हो, हम दोनों पति-पत्नी भोर में चार बजे बिछावन छोड़कर उठ जाते हैं। अपना नित्यकर्म करने के बाद मैं सारा सामान ठीक-ठाक कर साइकिल पर रखता हूँ और तब तक घरवाली नाश्ता-चाय तैयार कर लेती है। सामान सजा लेने के बाद नाश्ता करता हूँ, चाय पीता हूँ, उसके बाद घर से निकलकर अपने जीवन में लग जाता हूँ।”

“अपने जीवन में लग जाता हूँ” सुनकर कृष्ण कुमार के मन को बड़बड़िया का विचार उसी तरह आकर्षित कर अपनी ओर खींच ले गया, जैसे अजगर साँप की आँख से आँख मिल जाने पर दूसरा साँप खिंच जाता है। अजगर साँप की आँख में आकर्षित करने की, अपनी ओर खींचने की, ऐसी शक्ति होती है कि सामनेवाला भाग नहीं पाता और धीरे-धीरे उसके मुँह तक आ जाता है। मुँह के पास आते ही अजगर उसे निगल जाता है।

कृष्ण कुमार बोले, “कितने दिनों से यह मिरचाई, धनिया, हल्दी, लहसुन बेचने का कारोबार कर रहे हो, और पूरे दिन में कितनी कमाई हो जाती है?”

जैसे किसी को अपनी जिन्दगी की कथा दूसरे को सुनाने में रस और आनन्द आता है, वैसे ही बड़बड़िया के मन में भी आनन्द उमड़ पड़ा। आनन्द उमड़ते ही बड़बड़िया बोला, “बौआ, जब आपने जीवन की बात पूछी है, तब अपने जीवन की सारी बात सुना देता हूँ।”

बड़बड़िया के मुँह से “जीवन की सारी बात सुना देता हूँ” सुनकर कृष्ण कुमार बोले, “साइकिल यहीं खड़ी कर दो और दरवाज़े की चौकी पर बैठो। इससे हम दोनों गप-सप भी करेंगे और तब तक पत्नी चाय भी

बना लेंगी। चाय पीकर चले जाना।"

वैसे, रुक्मिणी के मन में भी यह इच्छा जाग चुकी थी कि बड़बड़िया के मुँह से उसके जीवन का इतिहास सुना जाए।

बड़बड़िया के मुँह से जीवन का इतिहास सुनने की बात से जैसे कृष्ण कुमार के मन में आकर्षण बढ़ा, वैसे ही रुक्मिणी के मन में भी बढ़ गया। इसलिए रुक्मिणी चाय बनाना छोड़कर दरवाज़े पर ही खड़ी रह गईं। कृष्ण कुमार बोले, "जब अपना इतिहास सुनाना चाहते हो, तब जड़ से सुनाओ, जिससे समझने में कहीं कोई दुविधा न रहे।"

बड़बड़िया बोला, "बौआ, पचपन वर्ष के करीब उम्र हो गई है। वैसे, जन्म की तारीख तो ठीक से मालूम नहीं है, पर अंदाज़ से कह रहा हूँ।"

बड़बड़िया ने जैसे कहा, कृष्ण कुमार ने वैसे ही मानते हुए कहा, "मान लिया कि पचपन वर्ष हुए। आगे कहो।"

बड़बड़िया बोला, "जब पाँच-छह वर्ष का था, उसी समय पिताजी ने स्कूल में नाम लिखवा दिया। अब तो गाँव में हाई स्कूल हो गया है, जिसमें करीब तीस शिक्षक हैं, पर उस समय अपर प्राइमरी स्कूल था, जिसमें पाँचवीं तक पढ़ाई होती थी। तब केवल तीन ही शिक्षक थे। गाँव के स्कूल से पास करने के बाद सोनवरसा हाई स्कूल में नाम लिखवाया। नौवीं में जब पढ़ रहा था, तभी पढ़ाई छोड़ दी।"

"पढ़ाई छोड़ दी" सुनकर जिज्ञासा से कृष्ण कुमार ने पूछा, "क्यों पढ़ाई छोड़ दी?"

मुस्कुराते हुए बड़बड़िया बोला, "बौआ, अपने गाँव में और दूसरे गाँवों में देखता था कि पढ़े-लिखे और बिना पढ़े-लिखे युवक काम के अभाव में भटक रहे हैं। अपने गाँव के ही पचास से अधिक युवक बेरोज़गार थे। मन में हुआ कि इसी तरह हर गाँव के युवक बेरोज़गार

होंगे। उससे अच्छा है कि अपना कोई रोज़गार किया जाए। घर की स्थिति ऐसी नहीं थी कि घर से पूँजी लगाकर कोई रोज़गार करता। इसी सोच-विचार में दो वर्ष बीत गए। दो वर्ष बीत जाने के बाद मन में यह पछतावा भी होने लगा कि व्यर्थ ही पढ़ाई छोड़ दी। पढ़ा-लिखा आदमी यदि हल भी जोतेगा, तो उसकी सिरौर बिना पढ़े-लिखे आदमी की अपेक्षा अधिक सुगढ़ ही होगी।"

बड़बड़िया की बात सुनकर कृष्ण कुमार और रुक्मिणी, दोनों को हँसी आ गई। अपनी हँसी रोकते हुए कृष्ण कुमार बोले, "तब क्या हुआ?"

बड़बड़िया बोला, "तब तक मैं भी पूरी तरह जवान तो नहीं हुआ था, पर विवाह योग्य हो गया था। गाँव में दूसरों को देखता था, मुझसे कम उम्र वालों का भी विवाह हो रहा था। अब तो जवान होने पर विवाह होता है, उस समय बचपन में ही विवाह हो जाता था।"

कृष्ण कुमार बोले, "तुम्हारा विवाह क्यों पीछे छूट गया था?"

बड़बड़िया बोला, "पीछे कहाँ छूटा! मेरा भी विवाह करीब पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में हो ही गया। आज तो लोग दान-दहेज में गाड़ी देते हैं, पर उस समय जिसे साइकिल और हाथ की घड़ी मिल जाती थी, वह समझता था कि बहुत मिला। मुझे भी साइकिल मिली थी।"

रुक्मिणी बोलीं, "फिर क्या हुआ?"

बड़बड़िया बोला, "विवाह में जब मैं ससुराल गया था, तब सास ने चुपचाप, यानी और लोगों से छिपाकर, मुझे एक हजार रुपये दे दिए। गोड़ लगाइ में जो रुपया मिला, वह भी सब मिलाकर पाँच सौ हो गया। वही रुपया और साइकिल को पूँजी बनाकर मैंने अपना कारोबार शुरू किया।"

बीच में कृष्ण कुमार के मुँह से निकला, "वाह!"

"वाह" सुनकर मुस्कुराते हुए बड़बड़िया बोला, "बौआ, आज

पैंतीस वर्ष से अपना कारोबार कर रहा हूँ। अभी जो साइकिल है, यह पाँचवीं है। इसी बीच परिवार में माता-पिता की मृत्यु के बाद श्राद्ध में भोज भी किया। तीन बेटियों का विवाह भी किया और दोनों बेटों को बी.ए. तक पढ़ाया भी। एक कोसी प्रोजेक्ट में नौकरी करता है और दूसरा स्वास्थ्य विभाग में।”

सूरज उग आया। उगते हुए सूर्य को देखते ही बड़बड़िया हड़बड़ाकर बोला, “बौआ, दूसरे दिन और कहूँगा। देर हो गई। चलता हूँ।”

❑❑❑
❑❑
❑

Notes